कृतिकार-परिचय

आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज का जन्म मारवाड-राजस्थान प्रान्त के नागौर जिलान्तर्गत लूणसरा गाव मे विक्रम सवत् 1967 की श्रावण कृष्णा सप्तमी को बीसा ओसवाल-वशीय सम्पन्न परिवार मे हुआ। पिता श्री बचनमल जी बागचार एव माता श्री भीखी बाई अपने लाडले पुत्र को "गणेश" के नाम से पुकारते थे। धर्मानुरक्त मातृ-हृदय की सत्प्रेरणा से ग्यारह वर्षीय बालक गणेश ने अपने जीवन का श्रीगणेश, सद्गुरु स्वामीजी श्री नथमल जी महाराज की निश्रा मे पीपाड मे दीक्षित हो, मुनिचर्या से ही किया।

गुरुजनो की छत्रच्छाया मे जैनागमो का ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही आपने प्राचीनतम भाषाओ—प्राकृत व सस्कृत—का ठोस अध्ययन किया। कलकत्ता मे काव्य न्यायविषयक स्नातकोत्तर परीक्षाओ मे आपने अच्छी श्रेणी मे सलफता प्राप्त की। विद्वन्मडल ने काव्यतीर्थ, तर्कमनीषी आदि उपाधियो से अलकृत किया। इसके अतिरिक्त सुदूर प्रातीय अग्रेजी, बगाली, गुजराती व कन्नड भाषाओ का भी आपने अच्छा अभ्यास किया। सब तरह से योग्य जानकर चतुर्विध सघ ने सम्वत् २००४ मे नागौर शहर मे उपाध्याय-पद से एव सवत् २०३३ मे रायपुर शहर मे आचार्य पद से विभूषित किया। इतना सब होते हुए भी आपकी प्रवृत्ति सदा स्वात सुखाय ही रही। लोक-पूजा एव ख्याति से आप सदैव दूर रहने का प्रयत्न करते रहे।

विगत कुछ वर्षो से जयगुजार परिवार की आग्रहपूर्ण विनम्र प्रार्थना को स्वीकारते हुए आपने अपनी ज्ञान-प्रसादी वितरित करने की महती कृपा की। पाठक जगत् के आग्रह से बाध्य होकर इन बिखरे हुए अमृत-कणो को सुरक्षित रखने के लिए स्वर्ण-घट के रूप मे ग्रन्थ-निर्माण हुआ—' जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ"—इस नाम से।

इसके अतिरिक्त सस्कृत एव हिन्दी पद्य-साहित्य के रूप मे आपकी अनेकानेक रचनाए अद्यावधि अप्रकाशित है। पाठको का सौभाग्य हुआ तो उन्हे उनमे गोता लगाने का सुअवसर भी एक-न-एक दिन अवश्य प्राप्त होगा।

—प० रत्न मुनि श्री लालचन्द जी महाराज

जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ

जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ

(संक्षिप्त एवं तुलनात्मक अध्ययन)

ग्रन्थकार

आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज

काव्य-न्यायतीर्थ

सम्पादक

डॉ० पुरुषोत्तम चन्द्र जैन

एम ए, एम ओ एल, पी-एच डी

प्रकाशक

जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

● जयध्वज प्रकाशन समिति ग्रन्थमाला पुष्पांक—८

● ग्रन्थ .
जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ

● ग्रथकार
आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज

● सस्करण प्रथम
प्रति १९००
प्रकाशन .
वीर सवत् २५०७
विक्रम सवत् २०३६
ईस्वी सन् १९७९

मूल्य १५ रुपये

● प्रकाशक
जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

● प्राप्ति स्थान
पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार,
पीपाड शहर, राजस्थान

● मुद्रक . निर्मल कम्पोजिंग एजेन्सी, ७२७-४४ जूड बाग त्री-नगर
देहली-३५ द्वारा मोहन प्रिंटिंग कार्पोरेशन मे मुद्रित ।

समर्पणम्

श्री सद्गुरो !

कवि-मुनीश्वर-चौथमल्ल !

स्वामिन् !

त्वदीय चरणे समुदार्प्यंते या,

सैषा कृतिस्तव कृते प्रतिभाति तुच्छा,

सन्तोषपोषमयते,

किमु,

मे

न

चेत ।।

जीतमल्लाचार्य

विषयानुक्रमणिका

नम्रनिवेदन

जैसलमेर, पाटण, पीपाड, खभात आदि अनेक जैन भण्डारो मे सुरक्षित, प्राचीन जैनाचार्यो द्वारा रचित, अगणित एव विभिन्न विशाल, अमूल्य एव ज्ञानगर्भित वाड्मय पर जब हम दृष्टिपात करते है तो सद्य ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि यदि वे महात्मा भूमि पर अवतरित न हुई होती तो धर्म की क्या दशा होती ! आर्य संस्कृति कैसे स्थिर रह पाती और सभ्यता पीढी दरपीढी कैसे पनप पाती ? सभ्यता और सुसस्कृति की परिभाषा क्या है ? जिस जाति या कौम के पास जीवन की अनुभूतियो का भण्डार, अपना साहित्य होता है वह जाति सभ्य और सुसस्कृत कहलाती है और जो इससे हीन है वह असभ्य और असस्कृत रह जाती है। हमारे पूर्वज सन्त महर्षियो ने चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के थे, हमे मात्र सभ्य और सुसस्कृत ही नही बनाया किन्तु ग्रन्थो के रूप मे अनन्त ज्ञान की निधि प्रदान करके हमे मानव-सस्कृति के उच्च धरातल पर बिठाया। वर्तमान और भविष्यत् काल की मानव-पीढी उनके ऋण को अनन्त काल तक नही चुका सकेगी।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि हम अपने पूर्वज महर्षियो के उत्तराधिकारी के रूप मे अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सके। उनके द्वारा रचित ग्रन्थो का पठन पाठन तो दूर रहा हम तो उनको सुरक्षित भी न रख सके, उनका शत प्रतिशत प्रकाशन भी न करा सके और वर्तमान पीढी को उनके दिव्य ज्ञान की ज्योति से आलोकित भी न कर सके। जो जाति ज्ञान के आलोक की उपेक्षा करती है, वह ससार की विकासशील सस्कृतियो के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर प्रगति-पथ पर अग्रसर नही हो सकती। वह पिछुड जाती है। आज के युग मे पिछुड जाना पतन की, ह्रास की, बुद्धिहीनता की और प्रमाद की

। कथन

"जैन सस्कृति का वाङ्मय भारतीय सस्कृति के वाङ्मय को पूर्णता प्रदान कराने वाला है" यह उक्ति शत-प्रतिशत सत्य है। जिस प्रकार वैदिक एव बौद्ध सस्कृतियो के आचार्यो ने, वैदिक एव बौद्ध सस्कृतियो को नव-नव मौलिक साहित्य-सर्जन द्वारा उत्तरोत्तर समृद्ध किया है, वैसे ही महामनीषी, तत्व-चिन्तक, अनुसन्धाता जैनाचार्यो ने भी अपनी अलौकिक सारस्वती-प्रतिभा की वृष्टि से साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को उर्वरा और हरा-भरा रखकर समृद्ध बनाया है। व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र, तात्विक शास्त्र, दर्शन, कला, गणित, नीति, राजनीति, आचार शास्त्र, जीवन चरित्र आदि कोई भी विषय उनकी लेखनी से अछूता नही रहा है। अभिव्यक्ति का माध्यम, मात्र सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श ही नही किन्तु तामिल, तेलगु, कन्नड, गुजराती और मराठी आदि भारत की प्राय सभी भाषाएँ रही है। भद्रबाहु, उमास्वाती, कुन्दकुन्दाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र सूरि, गुणरत्न सूरि, यशोविजय गणि, विद्यानन्द, प्रभा चन्द्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, शीलाँकाचार्य आदि अनेक जैनाचार्यो ने, भिन्न-भिन्न शताब्दियो मे, भिन्न-भिन्न विषयो पर अपनी दिव्य-प्रतिभा द्वारा अनेक सैद्धान्तिक, दार्शनिक एव धार्मिक ग्रन्थ रत्नो की रचना द्वारा ज्ञान के प्रकाश से श्रमण सस्कृति के प्रागण को आलोकित रखा है। श्रीमद् जयमल्ल जी महाराज के नवम पट्टधर आचार्य प्रवर, श्री जीतमल्ल जी महाराज, प्राचीनकाल से चली आ रही साहित्यकार-आचार्यो की शृ खला की ही एक कडी है, ऐसा मैं मानता हूँ। या यो कहिये कि प्राचीन आचार्यो की प्रतिभा परम्परा को गतिशीलता प्रदान करने वाली आप वर्तमान युग की एक ज्ञान-गरिमा-मण्डित विभूति है। जैन धर्म के तत्वज्ञान और आचार धर्म की साक्षात साकारता आपकी शान्तमूर्ति मे देखी जा सकती है। जैन दर्शन एव जैनेतर दर्शनो पर, जैन धर्म ग्रन्थ एव जैन आगम ग्रन्थो पर आपका असाधारण अधिकार है। इसके अतिरिक्त वैदिक तथा बौद्ध

प्रकाश है, मार्ग-दर्शक है, अज्ञान अन्धकार है जहाँ ठोकरो के सिवाय कुछ नही है। ज्ञान का प्रकाश पाने के लिये हमे अपने प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलना होगा। जैन मुनिराज आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज साहब उन्ही प्राचीन महामनीषी जैनाचार्यों की पीढी के ही वर्तमान विद्वदग्रगण्य जैनाचार्य है। प्रस्तुत "जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" शीर्षक ग्रन्थ इन्ही आचार्य प्रवर की चिन्तन धारा का परिणाम है। आप जैन, जैनेतर सभी धर्मों के, आगमो के, सिद्धान्त ग्रन्थो के और दर्शनो के प्रौढ विद्वान् है। प्राचीन मौलिक ग्रन्थ सस्कृत, प्राकृत आदि भापाओ मे होने के कारण वर्तमान पीढी के पाठको के लिए अधिगमन योग्य नही है, या दूसरे शब्दो मे आज के पाठक उन भापाओ के ज्ञान के अभाव मे उन्हे समझ नही सकते। इसलिये भगवान् महावीर के मार्ग का ही अनुसरण करते हुए आचार्यप्रवरजी ने बडे ही सरल और बोधगम्य शब्दो मे जैन दर्शन की मौलिक उद्भावनाओ का बडी ही सुन्दर शैली मे दिग्दर्शन कराया है। सक्षिप्तता का युग होने के कारण से अपनी लेखनी पर नियत्रण रखते हुए उन्होने जो अत्यन्त उपयोगी धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्यिक तत्व है उन्ही पर प्रकाश डाला है। आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज साहब का यह साहित्यिक प्रयत्न वास्तव मे श्लाघनीय और अनुकरणीय है। आपकी चिन्तन धारा वास्तव मे अत्यन्त गभीर, प्रवाहमयी, सारगर्भित एव गहनतम है। प्रस्तुत ग्रन्थ के गवेषणात्मक लेख "जयगुन्जार" नाम के गवेषणात्मक मासिक पत्र मे प्रकाशित हो चुके है। पाठको का अत्याग्रह था कि आचार्य प्रवर जी के उन सब विद्वत्तापूर्ण लेखो का ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशन होना चाहिये। पाठको के आग्रह का सम्मान करते हुए विद्वान सन्त की ज्ञानगरिमा का ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुतीकरण निश्चय ही विज्ञ पाठको को रुचिकर होगा, ऐसी हमे पूर्ण आशा है।

नम्र निवेदक
पी० सी० जैन

डॉ० पी० सी० जैन

प्रधान सम्पादक,
"जयगुन्जार"
जोधपुर (राजस्थान)
मई, ६, १९७८

। कथन

"जैन सस्कृति का वाड्मय भारतीय सस्कृति के वाड्मय को पूर्णता प्रदान कराने वाला है" यह उक्ति शत-प्रतिशत सत्य है। जिस प्रकार वैदिक एव बौद्ध सस्कृतियो के आचार्यों ने, वैदिक एव बौद्ध सस्कृतियो को नव-नव मौलिक साहित्य-सर्जन द्वारा उत्तरोत्तर समृद्ध किया है, वैसे ही महामनीषी, तत्व-चिन्तक, अनुसन्धाता जैनाचार्यो ने भी अपनी अलौकिक सारस्वती-प्रतिभा की वृष्टि से साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को उर्वरा और हरा-भरा रखकर समृद्ध बनाया है। व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र, तात्विक शास्त्र, दर्शन, कला, गणित, नीति, राजनीति, आचार शास्त्र, जीवन चरित्र आदि कोई भी विषय उनकी लेखनी से अछूता नही रहा है। अभि-व्यक्ति का माध्यम, मात्र सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश ही नही किन्तु तामिल, तेलगु, कन्नड, गुजराती और मराठी आदि भारत की प्राय सभी भाषाएँ रही है। भद्रबाहु, उमास्वाती, कुन्दकुन्दाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र सूरि, गुणरत्न सूरि, यशोविजय गणि, विद्यानन्द, प्रभा चन्द्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, शीलांकाचार्य आदि अनेक जैनाचार्यो ने, भिन्न-भिन्न शताब्दियो मे, भिन्न-भिन्न विषयो पर अपनी दिव्य-प्रतिभा द्वारा अनेक सैद्धान्तिक, दार्शनिक एव धार्मिक ग्रन्थ रत्नो की रचना द्वारा ज्ञान के प्रकाश से श्रमण सस्कृति के प्रागण को आलोकित रखा है। श्रीमद् जयमल्ल जी महाराज के नवम पट्टधर आचार्य प्रवर, श्री जीतमल्ल जी महाराज, प्राचीनकाल से चली आ रही साहित्यकार-आचार्यो की श्रृखला की ही एक कडी है, ऐसा मै मानता हूँ। या यो कहिये कि प्राचीन आचार्यो की प्रतिभा परम्परा को गतिशीलता प्रदान करने वाली आप वर्तमान युग की एक ज्ञान-गरिमा-मण्डित विभूति है। जैन धर्म के तत्वज्ञान और आचार धर्म की साक्षात साकारता आपकी शान्तमूर्ति मे देखी जा सकती है। जैन दर्शन एव जैनेतर दर्शनो पर, जैन धर्म ग्रन्थ एव जैन आगम ग्रन्थो पर आपका असाधारण अधिकार है। इसके अतिरिक्त वैदिक तथा बौद्ध

साहित्य का भी आपने गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है। उक्त ज्ञान के मनन-चिन्तन-सलिल से सिंचन पाकर विकसित हो रहा है यह ज्ञान-प्रसून "जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" समष्टि के रूप मे यह एक प्रसून है किन्तु व्यष्टि के रूप मे जिज्ञासुओ को इस एक मे अनेक प्रसून मिलेगे जो अपनी सौरभ से न केवल जिज्ञासु जीवो को किन्तु दिग्-दिगन्त के मण्डल को सुरभित कर देगे—ऐसी मेरी धारणा है।

ज्ञान तो वैसे स्वत पावन होता है किन्तु अनुभूति प्रधान एव आचार प्रधान सन्तात्माओ मे उसका और निखरा हुआ रूप उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के पठन से यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज एक आचारपूत और ज्ञान-पूत, प्रतिभासम्पन्न सन्तात्मा है। 'जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ' नामक ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय पर उनके प्रखर पाण्डित्य की, तार्किक शक्ति की, विशाल एव समन्वयात्मक दृष्टिकोण की तथा सिद्धान्त-स्थापना की गहरी छाप है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पन्द्रह अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम से अन्तिम तक के अध्यायो मे क्रमश —भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणो से तत्व विश्लेषण जैन धर्म की प्राण अहिसा का अन्तर्मुखी गहन विवेचन, सत्य के भगवत् स्वरूप का निरूपण, अस्तेय की महिमा और स्तेय के दुष्परिणाम की रूपरेखा, ब्रह्मचर्य की गरिमा और अब्रह्मचर्य की लघिमा का दिग्-दर्शन, अपरिग्रह से जीव एव जीवन का उत्थान और परिग्रह से विश्वव्यापी विषमता के प्रसार की झलक, पापप्रवृत्ति निरोधक सयम की साधना का स्वरूप, जीवतत्व को प्रभावित करने वाली कर्मसत्ता का सागोपाग विवेचन, मनो-वैज्ञानिक पद्धति से लेश्या का बिश्लेषण, दान के प्रकारो का तारतम्यपूर्ण अध्ययन, सृष्टि-सर्जन जैसे गूढ एव जटिल विषय पर अनेक प्राचीन दार्शनिको के दृष्टिकोण की भिन्नता एव जैन दर्शन द्वारा उसका समन्वयात्मक तथा वैज्ञानिक समाधान, धर्म और आत्मा के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की रोचक चर्चा, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नामक तीन रत्नो की आध्यात्मिक जीबन मे महनीयता एव उपादेयता, मानब जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्ष का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन तथा उसके जैनदर्शन की दृष्टि से वास्तविक स्वरूप का

निरूपण—महामनीषी, तर्कशिरोमणि, आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज सा० ने इतने सुन्दर, सरल, सजीव शब्दो मे किया है कि जिसकी विद्वान् जिज्ञासु मुक्तकण्ठ से प्रशसा करेगे। प्रत्येक अध्याय मे जैनागमो के एव जैनेतर शास्त्रो के उद्धरण आचार्य प्रवर की गम्भीर विद्वत्ता के प्रतीक है और यत्र तत्र प्रसगानुकूल उनकी तर्कपूर्ण मण्डनात्मक शैली उनकी प्रखर प्रतिभा की परिचायिका है।

एक सन्तात्मा की प्रतिभा से प्रसूत और पूत 'जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ' शीर्षक ग्रन्थ निश्चित रूप से न केवल धार्मिक क्षेत्र मे और दार्शनिक क्षेत्र मे ही विद्वानो और तत्वचिन्तको की प्रशस्ति प्राप्त करेगा किन्तु जैन धर्म की मौलिक मान्यताओ के जिज्ञासुओ की जिज्ञासा को भी पूर्ण करेगा। हमे पूर्ण आशा है कि परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर जी भविष्य मे भी इस प्रकार के साहित्य-प्रसूनो की सुरभि से जैन-वाङ्मय के प्रागण को सुरभित करते रहेगे।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
सस्कृत विभाग,
२५-६-१६७६

डॉ० धर्मचन्द जैन
एम०ए०, पी-एच०डी०

जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ

वैसे तो विश्व के सभी धर्म अपनी-अपनी विशेपताए लिये हुए है किन्तु जैन धर्म की कतिपय मौलिक उद्भावनाएँ ऐसी है, जो उसको अन्य दर्शनो की श्रेणि मे एक महत्वपूर्ण पृथक स्थान प्रदान करती है।

तात्विक दृष्टिकोण

सर्वप्रथम हम जैन धर्म के तात्विक दृष्टिकोण को ही लेते है। इस तात्विक दृष्टिकोण को ही दार्शनिक दृष्टिकोण के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। सामान्य रूप से तत्व को चार पक्षो मे विभक्त किया जा सकता है—१ साख्य दर्शन के अनुसार तत्व सत् है। २ इसके विपरीत बौद्ध दर्शन तत्व को असत् मानता है। बौद्ध दर्शन की शाखा शून्यवाद का झुकाव भी सत् के निषेध की ओर अधिक परिलक्षित होता है। ३ तीसरे पक्ष के अनुसार सत् और असत् दोनो की स्वतन्त्र सत्ता है। न्याय वैशेषिक को इसी पक्ष का समर्थक कहा जा सकता है। इसके अनुसार सत् नाम का पदार्थ असत् पदार्थ से सर्वथा भिन्न भी है और स्वतन्त्र भी। इसी प्रकार असत् पदार्थ भी सत् पदार्थ से सर्वथा अपनी भिन्न सत्ता रखता है। ४ चतुर्थ पक्ष को अनुभयवाद का नाम दिया जा सकता है। वेदान्त दर्शन की माया को न सत् ही माना गया है और न असत् ही।

जैन धर्म का दृष्टिकोण इन चारो दृष्टिकोणो से सर्वथा विलक्षण एव मौलिक है। जैन धर्म के अनुसार उपर्युक्त चारो पक्ष या दृष्टिकोण ऐकान्तिक दृष्टि को लेकर चलने वाले है। इस कारण चारो अपूर्ण है। जैन दर्शन मे वस्तु को अनेक धर्मात्मक माना गया है। इस कारण न

किसी वस्तु को एकान्त रूप से सत् माना जा सकता है और न ही एकान्त रूप से असत् ही। वस्तु न तो एकान्त रूप से सत् और असत् ही है, और न ही एकान्त रूप से सत् और असत् दोनो से अनिर्वचनीय है। प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने के कारण उसे ऐकान्तिक दृष्टि से नही देखा जा सकता। जैन दर्शन का यह विशिष्ट दृष्टिकोण अधिक युक्तिसगत, मौलिक और वैज्ञानिक है, उपर्युक्त चार दार्शनिक पक्षो से।

जैन दर्शन मे द्रव्य और तत्व एकार्थवाची है। जैन दर्शन मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष—ये नव तत्व माने गये है। जीव द्रव्य की व्याख्या मे जीवकी गणना द्रव्य और तत्व दोनो मे की गई है। ससारी जीव को जैन दर्शन मे देह प्रमाण स्वीकार किया गया है। ऐसी मान्यता भारत के किसी अन्य दर्शन की नही। यह केवल जैन धर्म की मौलिक उद्भावना है।

इसके अतिरिक्त पृथ्वी, अप्, तेजस् आदि द्रव्यो मे वैशेषिकादि दर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओ की सत्ता मानते है। इसके विपरीत जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल के पृथक्-पृथक् परमाणु नही होते। सभी परमाणुओ मे रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श की योग्यता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन मे यद्यपि परमाणुओ की अनेक जातिया है तथापि सभी परमाणुओ मे अपने-अपने वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की स्थिरता है। जैन दर्शन मे परमाणु की एक ही जाति स्वीकार की गई है। एक द्रव्य के परमाणु मे दूसरे द्रव्य मे परिणत होने की सत्ता होती है। उदाहरण के लिए पानी का परमाणु अग्नि के परमाणु मे परिवर्तित होता देखा जाता है। जैन दर्शन का यह तात्विक विवेचन वर्तमान विज्ञान की आधार शिला पर खरा उतरने के कारण मौलिक है और विशिष्ट है।

ज्ञान के क्षेत्र मे भारत के अन्य दर्शन इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते है। इसके विपरीत जैन दर्शन इन्द्रियो की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर सीधे आत्मा से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार करता है। पौद्गलिक वस्तुओ का ज्ञान जो कि इन्द्रियो की सहायता से होता है, उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष की सज्ञा से प्रत्यक्ष-ज्ञान भी माना गया है और अपौद्गलिक वस्तुओ का ज्ञान जो

कि सीधा आत्मा से उत्पन्न होता है, उसे नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया है। फिर भी पौद्गलिक ज्ञान, पौद्गलिक साधनो (इन्द्रियो) से होने के कारण आत्मा से परोक्ष भी माना है। इसी प्रकार अपौद्गलिक ज्ञान शास्त्र के द्वारा भी हो जाने से उसे भी परोक्ष मान लिया गया है। इस प्रकार ज्ञान के विपय मे जैन दर्शन का अनैकान्तिक दृष्टि-कोण है।

जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त दृष्टि का सिद्धान्त जैनेतर दर्शनो से अपनी पृथक् विशेपता रखता है। मानव जीवन का वास्त-विक लक्ष्य है—शाश्वत शान्ति। शाश्वत शान्ति, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक्चारित्र के विना सभव नही है। सम्यक् दर्शनादि की उपलब्धि शुद्ध बोध के बिना सम्भव नही और शुद्ध वोध के लिए अने-कान्त दृष्टि अनिवार्य है। शुद्ध वोध को यदि हम मुक्ति का साधन मान ले तो अनुचित न होगा। "ऋते ज्ञानान्नमुक्ति" की उक्ति मे यदि हम ज्ञान का अर्थ शुद्ध बोध कर ले तो अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान के भी दो रूप हो सकते है—अविकृत और विकृत। अविकृत ज्ञान मे सहिष्णुता, नम्रता उदारता और निष्पक्षता के गुण अपेक्षित है। इन गुणो से युक्त अविकृत ज्ञान ही आत्म विकास की ओर अग्रसर करता है। यदि ज्ञान विकृत है, उसमे असहिष्णुता उद्दण्डता, सकीर्णता और पक्षपात के दोष है तो उससे आत्मा उत्तरोत्तर अधोगति को ही प्राप्त होता जाता है। जैन दर्शन का अनेकान्त-सिद्धान्त ज्ञान को विकृत होने से रोकता है। अनेकान्त-दृष्टि से ज्ञान वास्तव मे सत्य, शिव और सुन्दर बनता है। जहाँ दूसरे दर्शन किसी सैद्धान्तिक बात को लेकर परस्पर विवाद करते है-कलह करते है और घातक सघर्ष तक मे उलझ जाते है, वहाँ जैन दर्शन का अनेकान्तवाद अपनी उदारतापूर्ण, नम्रता-पूर्ण, सहिष्णुतापूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से सबमे समन्वय स्थापित करते हुए टूटे हुए मोतियो को एक सूत्र मे पिरोता है। जैन दर्शन का अनेकान्तवाद इस दृष्टि से अन्य दर्शनो की अपेक्षा अपनी विशिष्ट सत्ता स्थापित करता है।

अहिंसा :

निस्सन्देह अहिंसा के सिद्धान्त को सभी धर्माचार्यो ने किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार किया है। मनु महाराज तो "अहिंसा

परयो धर्म" मानते ही है। गीता मे भी अनेक स्थलो पर वार-वार कहा गया है —

सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित ।

गीता ६, ३१

समोऽह सर्वभूतेषु । वही, ६, २९

सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् ।

वही, १३, २७

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मत. ॥

वही, ६, ३२

अर्थात्—सब प्राणियो मे ईश्वर नाम की शक्ति समान रूप से विद्यमान है, अत सबको अपने समान ही समझ कर उनको पीडा नही पहुचानी चाहिये।

तथागत के अनुयायी यद्यपि वर्तमान युग मे मासभक्षक बन गये है किन्तु तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दो मे अपने युग के अनुयायियो से कहा था

अत्तान उपम कत्वा, न हनेय्य न घातये।

अर्थात्—प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सभी प्राणियो को अपने समान ही समझकर न उन्हे मारे और न ही किसी और द्वारा मरवाने की आज्ञा दे।

जैनागम मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है —

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ।

दशवैकालिकसूत्र, ४, ९

अर्थात्—ससार भर के प्राणियो की आत्मा को अपनी ही आत्मा के समान समझो।

यह तो हुआ जैनेतर और जैन दर्शन मे अहिंसा के विषय मे सामान्य विवेचन, किन्तु अहिंसा का जीवन और जगत् की गहराई मे

उतर कर जितना सूक्ष्म विवेचन जैन धर्म मे मिलता है वैसा अन्यत्र नही। कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि हिसा प्रधान धर्मो मे भी जो अहिंसा-तत्व का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है वह जैन धर्म मे प्रतिपादित अहिसा तत्व की ही देन है। अहिसा तत्व का तो जैन धर्म से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही समझना चाहिए। यदि अहिसा तत्व को जैन धर्म की आत्मा मान लिया जाय तो भी अतिशयोक्ति नही होगी। यदि अहिसा के तत्व को जैन धर्म से निकाल दिया जाय तो जैन धर्म मे अवशेष रह ही क्या जायेगा ? पाठक स्वय विचार कर सकते है। केवल भारतीय धर्मो के लिये ही नही अपितु विश्व के लिए भी अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म की देन है। जैन धर्मावलम्बियो के ही प्रयत्नो से आज विश्व के कोने कोने मे अहिसा के प्रचार की अनेक सस्थाएँ खुल चुकी है।

अहिसा तत्त्व को दृष्टि मे रखते हुए जैन धर्म की सबसे बडी विशेषता यह है कि सासारिक जीवन एव आध्यात्मिक जीवन–दोनो के विकास एव सफलता के लिए अहिसा को प्रथम स्थान दिया गया है। चाहे श्रमण हो या श्रावक दोनो को आगम विहित व्रतो के आचरण के लिए सर्वप्रथम अहिसा व्रत का ही नियम लेना होता है। यद्यपि श्रमणो और श्रावको के अहिसा-पालन मे अल्पता और महत्ता विद्यमान है किन्तु अहिसा की प्राथमिकता मे कोई अन्तर नही है। अहिसा जैन धर्म का प्राण है और उसका जैन धर्म मे उच्चतम स्थान है, इसका अभिप्राय यह कदापि नही है कि अन्य व्रतो या नियमो की जैन धर्म मे उपेक्षा की गई है। व्रत तो सभी उपादेय है किन्तु अहिसा व्रत को अन्य सभी व्रतो की आधार शिला माना गया है।

दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन के अनुसार —

अहिंसा-गहणे पच महव्वयाणि गहियाणि भवति।

अहिसा के अतिरिक्त जितने भी व्रत हैं वे सभी अहिसा के स्तम्भ पर टिके हुए है। यदि सत्य की पृष्ठभूमि मे अहिसा की भावना नहीं होगी तो सत्य कैसे अपनी सत्यता प्रकट कर सकेगा ? बिना अहिंसा की भावना के अचौर्य व्रत का पालन कभी भी सम्भव नही। ब्रह्मचर्य का त्याग अनेक प्राणियो की हिंसा है, अत ब्रह्मचर्य का पालन भी

बिना अहिंसा की भावना के सम्भव नही। परिग्रह की भावना दूसरो के शोषण पर आधारित है अत जब तक अहिंसा की भावना मन मे जागृत नही होगी तब तक अपरिग्रह व्रत का पालन भी नही किया जा सकता। जैन धर्म मे अहिंसा का सिद्धान्त आधार भूमि है और शेष सभी व्रत, नियम, विधि-विधान आधेय है। इसलिये हमने अहिंसा को जैन धर्म की आधार शिला बताया है। सम्भवत इसी भावना से किसी विद्वान ने कहा है —

अहिंसा भूताना जगति,
विदित ब्रह्म परमम्॥

अर्थात्—ससार मे प्राणियो की हिंसा न करना ही सबसे बडा पर ब्रह्म है।

अहिंसा व्रत का जितना सूक्ष्म विवेचन जैनागमो मे उपलब्ध है उतना अन्यत्र नही। जैनाचार्यो ने इतर आचार्यो की अपेक्षा अहिंसा तत्व की बडी गहराई और सूक्ष्म दृष्टि से छान बीन की है। उन्होने ससारी प्राणियो को अहिंसा-व्रत का पालन करने के लिए ऐसे मूल्यवान सुझाव दिये है जिनके सावधानी से पालन करने से मानव महान् कर्म बन्धन से छुटकारा पा सकता है। आगम का कथन है कि —

जयं चरे जय चिट्ठे जयमासे जयं सये।
जय भुजतो भासंतो पावकम्मं न बधई॥

दशवैकालिक सूत्र, ४, ८

अर्थात्—अहिंसा-व्रत के साधक को चाहिये कि वह सावधानी से चले, सावधानी से ठहरे, सावधानी से बैठे, सावधानी से सोये, विवेक से भोजन करे एव विवेकपूर्ण वाणी बोले। ऐसा करने से वह बहुत बडे पापकर्म के बन्ध से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

एक आचार्य ने तो हिंसाविरति पर बल देते हुए बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से लिखा है —

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा नवा वधः॥

राजवार्तिक, ७, १३

अर्थात्—जो प्रमादी या पागल आत्मा किसी दूसरे प्राणी का हनन करता है वह अपना हनन पहले ही कर डालता है। घातक की आत्मा घात करने से पूर्व ही पाप से लिप्त हो जाती है और घोर कर्म बांध लेती है।

आचार्य भद्रबाहु के शब्दो मे भी अपना आत्मा ही वास्तव मे अहिंसक है तथा आत्मा ही हिंसक—

आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो।
जो होई अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥
॥ ७५४ ॥

अर्थात्—अहिंसा और हिंसा की परिभाषा करते समय यह एक निश्चित सिद्धान्त समझना चाहिए कि आत्मा ही अहिंसा से और आत्मा ही हिंसा से युक्त है। जो आत्मा विवेकशील है, जागृत है, सावधान है और प्रमादहीन है—वह अहिंसक आत्मा है और जो इसके विपरीत विवेकहीन है, जागृत नही, सावधान नही है एव प्रमादाच्छन्न है वह हिंसक आत्मा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा तत्व का जितना सूक्ष्म स्वरूप एव विवेचन जैनागमो मे प्रस्तुत किया गया है उतना जैनेतर दर्शनो मे दृष्टिगोचर नही होता। यही कारण है कि जैन धर्म अहिंसा तत्व के वैशिष्ट्य के कारण भी जैनेतर धर्मो मे अपना पृथक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

गुणपूजा :

गुणा. पूजास्थान गुणिषु,
न च लिंग न च वयः ॥

अर्थात्—किसी भी व्यक्ति की पूजा उसके गुणो के कारण होनी चाहिए, आयु और बाह्य चिन्हो के कारण नही। जैन धर्म इस उक्ति मे अक्षरश विश्वास करता है। वैदिक सस्कृति मे मुख्य रूप से व्यक्ति पूजा मे ही विश्वास किया जाता है। व्यक्ति पूजा मे, जिसकी पूजा की जाती है उसे ही सर्वगुण सम्पन्न मान लिया जाता है। उसकी स्तुति मे उसके व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, गुणो की नही। व्यक्ति अपने आप मे पूज्य माना जाता है, गुणो के कारण नही।

ब्राह्मण इसलिए पूज्य माना जाता है कि उसका जन्म ब्राह्मण के घर मे हुआ है। वह सदाचारहीन हो तो भी पूजा का पात्र है। इसके विपरीत जैन धर्म सदा से गुण पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल वर्ण और वाह्य वेप के कारण किसी भी व्यक्ति के महत्व को स्वीकार नही किया जाता। किसी भी दुराचारी, अत्याचारी और व्यभिचारी को उच्च कुल मे जन्म लेने के कारण पूज्य समझ लिया जाय और नीच कुल मे जन्म लेने के कारण किसी सदाचारी, परोपकारी और दयाशील व्यक्ति को भी घृणित मान लिया जाय तो इससे सदाचार और सद्गुणो का घोर अपमान भी होगा एव सास्कृतिक दृष्टि से मानवता कलकित भी होगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति पूजा को अगीकार करने से दुराचार सदाचार से ऊचा उठ जायेगा, ज्ञान पर अज्ञान विजय प्राप्त कर लेगा और तमोगुण सत्वगुण को पराजित कर देगा। ऐसी स्थिति मे मानव अपने आपको कैसे सुसस्कृत कहला सकेगा? इसी कारण से "ससार मे पूज्य किसको मानना चाहिये"—इसका विवेचन करते हुए आगमकार कहते है —

> गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
> गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू॥
> विआणिआ अप्पगमप्पएण।
> जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥
>
> दशवैकालिक सूत्र, अ० ९, उ० ३, गा०।

अर्थात्—कोई भी गुणो के कारण ही साधु माना जाता है एव दुर्गुणो के कारण ही असाधु या दुष्ट समझा जाता है। आत्मा के द्वारा ही जो आत्मा के गुणो को पहचान लेता है तथा राग द्वेष मे जिसकी बुद्धि सम है, वही मानव पूजा के योग्य है।

गुणपूजा की मान्यता के कारण ही जैन सस्कृति मे जो पचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है उसमे किसी व्यक्ति विशेष का नाम एव महत्व नही है, अपितु उन सभी महापुरुषो को नमस्कार किया गया है, जिन्होने अपना सारा जीवन स्वात्म कल्याण के लिए एव प्राणी मात्र के कल्याण के लिए यापन किया है तथा कर रहे है।

जैन सस्कृति मे "देव" शब्द से दो प्रकार के व्यक्तियो का बोध होता है—भौतिक सम्पत्ति के धनी और आध्यात्मिक सम्पत्ति के धनी।

वैदिक परम्परा मे प्रथम कोटि के देव आराध्य माने जाते है किन्तु जैन सस्कृत्ति मे उनका विशेष महत्व नही है। जेन सस्कृति मे तो आध्यात्मिक सम्पत्ति वाले देव ही आराध्य हैं। यह आध्यात्मिक देवत्व भी किसी को जन्म से ही प्राप्त नही हो जाता। ऐसा आत्मा जो अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह महाव्रतो के पालन द्वारा रागादि के त्याग द्वारा और तपस्या द्वारा पूर्ण आत्मविकास की दशा को प्राप्त हो जाता है, वही पूज्य माना जाता है। वेदिक धर्म की अपेक्षा जैन धर्म मे पूज्य की पूजा का उद्देश्य भी भिन्न प्रकार का है। वैदिक सस्कृति मे पुजारी आराध्य की पूजा इस लिये करता है कि आराध्य प्रसन्न हो कर अपनी कृपा द्वारा पुजारी को सब प्रकार के सुख साधनो से सम्पन्न कर दे, किन्तु श्रमण सस्कृति का पुजारी आराध्य को अपने हृदय मे इसलिए उतारता है कि वह आराध्य के गुणो का आधान अपने मे कर सके। प्रथम सस्कृति से सामन्तशाही का जन्म होता है और दूसरी जन्मदेती है गुणपूजा को। जैन धर्म मे गुणपूजा को उपादेय माना गया है एव व्यक्ति पूजा को हेय। शास्त्र मे उल्लेख है कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर गौतम को भगवान् के व्यक्तित्व से महान् मोह हो गया था। गौतम गणधर के अनेक शिष्य प्रशिष्य त्याग, तपस्या द्वारा कैवल्य प्राप्त करके मुक्त हो गये थे, किन्तु गणधर गौतम महावीर के व्यक्तित्व से मोह के कारण मुक्तावस्था प्राप्त नही कर रहे थे। जब तक उनका मोह दूर नही हुआ तब तक वे कैवल्य-प्राप्ति से वञ्चित ही रहे। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के पश्चात् ही उनका मोह दूर हुआ और उन्हे कैवल्य की उपलब्धि हुई। इससे पाठको को स्पष्ट हो गया होगा कि जैन धर्म मे गुणपूजा का सिद्धान्त भी उसकी अपनी विशेषता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक धर्मो मे देवी देवो की स्तुति इस लिए की जाती है कि स्तुति के परिणामस्वरूप धन धान्य की प्राप्ति हो। वहाँ स्तोता अल्प से सन्तोष नही करता किन्तु अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है। उसमे सग्रह की भावना है। कही कही तो स्तोता दूसरो का स्वत्व छीनकर भी अपना घर भरने की इच्छा करता है। जैन धर्म की मान्यता इसके सर्वथा विपरीत है। इस मान्यता के अनुसार मानव जितना अधिक से अधिक सग्रह करने मे लिप्त होता है, उतनी अधिक उसकी तृष्णा बढती जाती है। इससे न केवल उसकी

आत्मा का विकास ही रुक जाता है अपितु एक स्थान मे सग्रह होने से सामान्य जन समाज मे धन धान्य का समवितरण भी रुक जाता है। इसी से पूजीवाद का जन्म होता है और उसी की प्रतिक्रिया के रूप मे खूनी क्रान्तियाँ होती हैं। साम्यवाद और समाजवाद का जन्म ऐसी सग्रह की भावनाओ का ही परिणाम है। प्राचीन काल मे जैन धर्म "निग्गठे पवयणे"—निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—गाठ खोल देना। गाठ खोल देना ही अपरिग्रह है। भगवान् महावीर निर्ग्रन्थ थे, क्योकि वे कुछ भी गाठ वाध कर नही रखते थे। आवश्यकतानुसार अल्प ही लेते थे और आत्मचिन्तन मे लीन हो जाते थे। उनका सभी को उपदेश था—निर्ग्रन्थ बनो। दूसरे शब्दो मे अपरिग्रह-व्रत धारण करो। जो व्यक्ति गाठ नही रखता वह स्वय को तो सुखी बनाता ही है, किन्तु दूसरो के सुख का भी कारण बनता है। जो ग्रन्थि है वही तो बन्धन है और जो बन्धन है वही परिग्रह। आत्मा को पाश मे जकडे रखने वाला परिग्रह ही है।

इसीलिए तो प्रश्न व्याकरण सूत्र मे उल्लेख है —

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो।
अत्थि सव्वजीवाण ॥

भगवान महावीर ने तो स्पष्ट शब्दो मे यह घोषणा की थी कि -

चित्तमन्तमचित्त वा परिगिज्भ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणइ, एव दुक्खाणू मुच्चई ॥

—सूत्रकृताग, १, १, १

अहिं ा दर्शन

सर्वप्रथम सस्कृति की अन्तरात्मा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। वास्तव मे सस्कृति को मानवता की आधारशिला कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। सस्कृति आत्मा से सम्बन्ध रखती है, आत्मिक उत्थान का प्रतीक है, आत्मिक उत्कर्ष की सीढी है, और आत्म दर्शन की प्रक्रिया है। इसके विपरीत "सभ्यता" शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये और विलासमय साधनो की उपलब्धि के लिये किये गये प्रयत्नो का प्रतीक है। दूसरे शब्दो मे संस्कृति पारलौकिक तत्वो की द्योतक है और सभ्यता ऐहलौकिक एषणाओ की जननी। सभ्यता मनुष्य के मनोविकारो को अभिव्यक्त करती है और सस्कृति उसकी आत्मा को अभ्युत्थान की ओर ले जाती है। नि सन्देह दोनो का अस्तित्व एक ही समाज या राष्ट्र मे हो सकता है और है भी, किन्तु जिन देशो मे सस्कृति को सभ्यता की दासी बना दिया जाता है वहाँ सामाजिक वैषम्य और राष्ट्रव्यापी विप्लवो का होना अवश्यभावी है। आज के युग का सारा सामाजिक और राजनैतिक वातावरण इसी प्रकार का है।

व्यापक रूप से फैली हुई विषमता, शोषण और अशान्ति, सब सभ्यता के सस्कृति पर छा जाने के ही परिणाम है। सभ्यता के पोषक तत्वो ने मानव को दानव बना दिया है। उच्च शिक्षा प्राप्त आज का मानव भी स्वय को सभ्य बनाने के लिये सग्रह के निमित भ्रष्टाचार के गर्त मे गिर रहा है। हम इस बात का सकेत आरम्भ मे कर आये है कि सभ्यता का सम्बन्ध शारीरिक सुख साधनो के साथ है और सस्कृति का आत्मा के सात्विक गुणो के विकास के साथ। यदि हम जीवन को आनन्दमय बनाना चाहते है तो हमे आत्मिक विकास के

आत्मा का विकास ही रुक जाता है अपितु एक स्थान मे सग्रह होने से सामान्य जन समाज मे धन धान्य का समवितरण भी रुक जाता है। इसी से पूजीवाद का जन्म होता है और उसी की प्रतिक्रिया के रूप मे खूनी क्रान्तियाँ होती है। साम्यवाद और समाजवाद का जन्म ऐसी सग्रह की भावनाओ का ही परिणाम है। प्राचीन काल मे जैन धर्म "निग्गठे पवयणे"—निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—गाठ खोल देना। गाठ खोल देना ही अपरिग्रह है। भगवान् महावीर निर्ग्रन्थ थे, क्योकि वे कुछ भी गाठ वाध कर नही रखते थे। आवश्यकतानुसार अल्प ही लेते थे और आत्मचिन्तन मे लीन हो जाते थे। उनका सभी को उपदेश था—निर्ग्रन्थ वनो। दूसरे शव्दो मे अपरिग्रह-व्रत धारण करो। जो व्यक्ति गाठ नही रखता वह स्वय को तो सुखी वनाता ही है, किन्तु दूसरो के सुख का भी कारण वनता है। जो ग्रन्थि है वही तो वन्धन है और जो वन्धन है वही परिग्रह। आत्मा को पाश मे जकडे रखने वाला परिग्रह ही है।

इसीलिए तो प्रश्न व्याकरण सूत्र मे उल्लेख है —

नत्थि एरिसो पासो पडिवधो।
अत्थि सव्वजीवाण ॥

भगवान महावीर ने तो स्पष्ट शव्दो मे यह घोषणा की थी कि —

चित्तमन्तमचित्त वा परिगिज्भ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणइ, एव दुक्खाणू मुच्चई॥

—सूत्रकृतांग, १, १, १, २

अर्थात् —सयम और साधना के पथ पर चलने वाला साधक यदि स्वय किसी प्रकार का परिग्रह रखता है, दूसरो को रखने की अनुमति देता है तो कभी भी सासारिक दु खो से मुक्ति नही पा सकता।

जैन धर्म मे प्रतिपादित अपरिग्रह और परिग्रह के विश्लेषण से और उसे जीवन मे उतारने के महत्व और वल से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन सस्कृति का अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त जैनेतर दर्शनो से अपनी पृथक् विशेषता और मौलिकता लिये हुए है।

लेख विस्तार भय से उक्त लेख मे जैन धर्म की कतिपय विशेषताओ की ही रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकी है। अवशिष्ट पर किसी अन्य अवसर पर पूरा प्रकाश डाला जायेगा।

अहिं ा दर्शन

सर्वप्रथम सस्कृति की अन्तरात्मा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। वास्तव मे सस्कृति को मानवता की आधारशिला कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। सस्कृति आत्मा से सम्बन्ध रखती है, आत्मिक उत्थान का प्रतीक है, आत्मिक उत्कर्ष की सीढी है, और आत्म दर्शन की प्रक्रिया है। इसके विपरीत "सभ्यता" शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये और विलासमय साधनो की उपलब्धि के लिये किये गये प्रयत्नो का प्रतीक है। दूसरे शब्दो मे संस्कृति पारलौकिक तत्वो की द्योतक है और सभ्यता ऐहलौकिक एषणाओ की जननी। सभ्यता मनुष्य के मनोविकारो को अभिव्यक्त करती है और सस्कृति उसकी आत्मा को अभ्युत्थान की ओर ले जाती है। नि सन्देह दोनो का अस्तित्व एक ही समाज या राष्ट्र मे हो सकता है और है भी, किन्तु जिन देशो मे सस्कृति को सभ्यता की दासी बना दिया जाता है वहाँ सामाजिक वैपम्य और राष्ट्रव्यापी विप्लवो का होना अवश्यभावी है। आज के युग का सारा सामाजिक और राजनैतिक वातावरण इसी प्रकार का है।

व्यापक रूप से फैली हुई विषमता, शोषण और अशान्ति, सब सभ्यता के सस्कृति पर छा जाने के ही परिणाम है। सभ्यता के पोषक तत्वो ने मानव को दानव बना दिया है। उच्च शिक्षा प्राप्त आज का मानव भी स्वय को सभ्य बनाने के लिये सग्रह के निमित भ्रष्टाचार के गर्त मे गिर रहा है। हम इस बात का सकेत आरम्भ मे कर आये है कि सभ्यता का सम्बन्ध शारीरिक सुख साधनो के साथ है और सस्कृति का आत्मा के सात्विक गुणो के विकास के साथ। यदि हम जीवन को आनन्दमय बनाना चाहते है तो हमे आत्मिक विकास के

क्षेत्र मे आगे वढना होगा, और उसके लिये यह आवश्यक है कि सभ्यता सस्कृति की दासी या सहायक वनकर चले। सभ्यता सस्कृति की सहायक तभी वन सकती है जब हम अपने जीवन की आवश्यकताओ मे कमी कर दे, उन्हे वढने न दे और उन पर विवेक से कावू पाले। वढती हुई लौकिक एपणाओ पर नियत्रण करना ही श्रमण सस्कृति मे "अपरिग्रह" नाम का पाचवा व्रतमाना है। नि सन्देह "अपरिग्रह" शब्द का उल्लेख इसी अर्थ मे अन्य धर्मो के धर्म ग्रन्थो मे भी मिलता अवश्य है परन्तु इसकी मौलिक भावना की व्यापकता क्रियाशीलता, मान्यता और महानता जितनी श्रमण सस्कृति मे है उतनी और किसी मे नही। श्रमण सस्कृति मे विचार पर वल न देकर आचार पर जो वल दिया है वह इसी सत्य का प्रतीक है। इस प्रकार सस्कृति शब्द जितना श्रमण सस्कृति पर चरितार्थ होता है इतना अन्य सस्कृति पर नही ऐसी हमारी धारणा है। हमारी सस्कृति की यह भी एक विशिष्टता ही समझनी चाहिये।

श्रमण सस्कृति मे अहिसा का प्रतिपादन अपना विशिष्ट महत्व रखता है। वैसे तो भारत के अन्य धर्मो मे भी ऐसे महावाक्यो का उल्लेख है कि जो वात अपने को रुचिकर नही है वह दूसरे को रुचिकर कैसे लगेगी। अतएव दूसरे प्राणियो के प्रतिकूल कुछ करना उचित नही है।

"आत्मन. प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।"

सब ससार के प्राणी अपने समान ही समझने चाहिये।

आत्मवत्सर्वभूतेषु।

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही सवसे वडा धर्म है

अहिंसा परमो धर्म।

जो सव भूतो को अपने मे और अपने को सब भूतो मे देखता है, समझता है और किसी से घृणा नही करता, ऐसे सबको आत्मा को अपनी आत्मा समझने वाले विद्वान् के लिये कभी भी किसी प्रकार का शोक और मोह नही होता।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान, ततो न विजुगुप्सते॥

यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद् विजानत ।
तत्र को मोह, को शोक एकत्वमनुपश्यत ।।

यजुर्वेद-४०, ६-७,

आदि अनेक शास्त्रीय उद्धरण अहिसा तत्व के ही समर्थक है किन्तु अहिसा की जो तात्विक और सूक्ष्म प्रतिप्ठा श्रमण सस्कृति मे मिलती है वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होती । जैन धर्म मे जो पाँच महाव्रतो का विधान है उनमे अहिसा का मूर्धन्य स्थान है । उसका कारण है । असत्य, चौर्य, ब्रह्मचर्य का त्याग, और परिग्रह ये चारों इसलिये पाप रूप समझे जाते है क्योकि ये हिसा को प्रोत्साहन देते है । अहिसा को यदि श्रमण सस्कृति की आत्मा कह दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी । श्रमण सस्कृति के अनुयायी गृहस्थ या सन्तो के लिये जिन व्रतो या नियमो का विधान है, उन सवकी आधार-भूत अहिसा है । वह जैन वाङ्मय मे केवल सिद्धान्त के रूप मे ही विद्यमान नही है किन्तु श्रावक और मुनियो के जीवन मे कार्यरूप मे अब भी देखी जा सकती है । वैष्णव और बौद्ध परम्परा मे हिंसा का विरोध होने पर भी बहुत बडी सख्या मे लोग मासाहारी है किन्तु जैन समाज मे अपवाद को छोडकर ऐसा नही है । जिनानुयायियो मे साम्प्रदायिक या कर्मकाण्ड के मतभेद चाहे कितने ही है, किन्तु अहिंसा नामक प्रथम महाव्रत के पालन के हेतु सब एक मत है ।

वैष्णव धर्म मे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, 'शौच, आदि दस धर्म के लक्षण माने है, बौद्ध धर्म मे अष्टागी मार्ग पर बल दिया गया है, किन्तु जैन धर्म की विलक्षण बात यह है कि इसमे अन्य सब तत्वो को यथोचित भाव से देखकर अहिसा को ही वास्तविक धर्म के रूप मे स्वीकार किया है । इसलिये अहिंसा को श्रमण सस्कृति की आत्मा कहना चाहिये ।

आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर घोषणा करते हुए कहते है :

"जो अरिहन्त हो चुके हैं, जो इस समय विद्यमान है और जो भविष्य मे होने वाले हैं वे सव यही कहते है, यही प्रतिपादन करते हैं और यही घोपणा करते है कि किसी भी छोटे या वडे जीव को न तो मारना चाहिये, न पकडना चाहिये और न ही किसी प्रकार का कष्ट

देना चाहिये। इसी को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहते है। ज्ञानियो ने जगत को भली भाति देखकर ऐसा कहा है।"

"जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा।
अरिहंता भगवन्ता सव्वे ते एवमाइक्खति, एव भासति
एस धम्मे सुद्धे, नितिए, सासए" इत्यादि।

आचारांग-१-४-१

किसी भी जीव की हिंसा क्यो नही करनी चाहिये इसके कारण की अभिव्यक्ति जैन वाड्मय मे इस प्रकार से हुई है। ससार के सब प्राणी जीने की इच्छा रखते है, कोई भी प्राणहीन होना या मरना नही चाहता।

"सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।"

दशवैकालिक-६-११

इसी सत्य की पुष्टि करते हुए वृहत्कल्प मे लिखा है कि जिस हिंसा की क्रिया को तुम अपने लिए पसन्द नही करते उसे दूसरा रुचिकर कैसे मानेगा, जिस दयापूर्ण व्यवहार को तुम अपने लिये पसन्द करते हो वही सबको पसन्द आयेगा। इस शिक्षा को जैन धर्म का निचोड समझना चाहिये।

"ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि मा, एतियग्ग जिणसासणय॥"

जो शास्त्र मानव की अन्तरात्मा मे तप, क्षमा और अहिसा की भावना को जागृत करे उसी को श्रमण सस्कृति मे शास्त्र माना है अन्य को नही

"ज सोच्चा पडिवज्जति तव खति महिसय।"

उत्तराध्ययन ३, ८

ज्ञानी भी उसी को माना है जो किसी सत्व की हिसा नही करता

"एव खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।"

सूत्रकृतांग १-११-१०

श्रमण सस्कृति मे सच्चा ब्राह्मण भी उसी को स्वीकार किया है जो मन, वचन, कर्म से किसी जीव की हिंसा नही करता

"जो न हिंसई तिविहेण, त वयं बूम माहणं।"
उत्तराध्ययन २५, २३

इसके अतिरिक्त प्राय विश्व की किसी भी सस्कृति मे हिसा के दो प्रकारो द्रव्य हिंसा और भाव हिसा के आचरण मे भाव हिंसा को द्रव्य हिंसा की समानता का स्थान नही मिला। जैन शासन मे द्रव्यहिसा और भावहिंसा की समानता तो एक सामान्य बात है किन्तु द्रव्य हिंसा की अपेक्षा भाव हिसा की विरति पर अधिक बल दिया गया है। हिंसा अहिसा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेपण अन्यत्र दुर्लभ है। जैन शास्त्र मे एक तन्दुल मत्स्य की कथा आती है, जो भाव हिंसा के सूक्ष्म तत्व और भीषण परिणाम पर प्रकाश डालती है।

"स्वयभूरमण सागर मे एक वृहत्काय मत्स्य की पलको पर एक चावल के आकार का छोटा तन्दुल मत्स्य बैठा था। वह देख रहा था कि उसके अधिष्ठान बडे मत्स्य के मुँह मे अनेक बडी छोटी मछलियाँ प्रविष्ट होती थी। कुछ तो उनमे मत्स्य द्वारा निगली जाती थी और कुछ बाहर भागने मे भी सफल हो जाती थी। तन्दुल-मत्स्य सोचने लगा कि यदि मैं बडे मत्स्य के स्थान पर होता तो एक मछली को भी बाहर न भागने देता। किसी भी मछली के निगलने की सामर्थ्य न होने पर भी उसने भाव हिंसा द्वारा कलुषित कर्म बाध लिया और दारुण नारकीय फल भोगा।"

पाटन के राजा कुमारपाल मासाहारी थे। उनकी पाकशाला मे आहार निमित्त अनेक पशु पक्षियो का वध होता था। जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रभाव मे आकर उन्होने मासाहार न करने की प्रतिज्ञा ले ली और पाकशाला मे होने वाला प्राणी—वध बन्द हो गया। एक बार उनकी पाकशाला मे पाचक ने खुमियो की सब्जी बना दी। राजा कुमारपाल जब भोजन करने लगे तो उन्हे खुमियो को दातो से चबाते समय परित्यक्त मासाहार का स्वाद आने लगा। राजा का मन एका-एक ग्लानि से भर गया और उन्होने आहार करना बन्द कर दिया। वे दिन भर उदास रहे क्योकि वे भाव हिंसा के अपराधी थे। सायकाल वे अपने गुरुदेव हेमचन्द्राचार्य के चरणो मे गये और उदास मुख-मुद्रा मे बैठ गये। आचार्य समझ गये कि राजा की चिन्ता की मुद्रा का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

"आज उदास कैसे हो राजन् !" आचार्य ने गम्भीर शब्दो मे पूछा ।

"भाव हिसा का अपराधी हू गुरुदेव ! कोई प्रायश्चित्त दीजिये ।" कुमारपाल ने अपनी भावहिसा की सारी कहानी सुना दी ।

इस महान् अपराध का प्रायश्चित्त अवश्य होगा, राजन ! और अभी करना होगा मेरे समक्ष ।" आचार्य ने आदेश की मुखमुद्रा मे कहा ।

"प्रस्तुत हूँ गुरुदेव । आज्ञा दीजिये ।" राजा ने आज्ञा स्वीकृति की भावना प्रकट करते हुए कहा ।

"पत्थर का टुकडा लेकर अभी मेरे समक्ष स्वय अपने दातो को तोड डालो, बस यही इस अपराध का दण्ड और प्रायश्चित्त है ।" आचार्य ने आज्ञा देते हुए कहा ।

सेवक को पाषाण खण्ड लाने की आज्ञा हुई और वह तुरन्त ले आया । कुमारपाल ने पाषाण खण्ड उठाकर जैसे ही स्वय अपने दान्तो को तोडने के लिये हाथ उठाया तो आचार्य ने राजा का हाथ पकड लिया और बोले ।

"राजन् । प्रायश्चित्त हो गया है । आपने भाव द्वारा ही तो हिंसा की थी और पश्चातापपूर्ण भाव द्वारा ही उसका प्रायश्चित्त हो गया है ।"

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण सस्कृति मे भावो की हिसातक को भी हेय और अनिष्टकारी समझा गया है । अहिसा तत्व का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण जैन सस्कृति के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नही होता । हमारी ऐसी धारणा है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिसा के इस निष्पक्ष एव मानवीय तत्व ने भारत भूमि मे बहने वाली सस्कृतियो की सभी धाराओ को पावन कर प्रभावित किया । वैदिक सस्कृति श्रमण सस्कृति के अहिसा के सिद्धान्त से कितनी व्यापक रूप से प्रभावित हुई है, यह बात किसी से छिपी हुई नही है ।

अब अहिंसा की दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर भी प्रकाश डालना हम आवश्यक समझते है । हिंसा किस की होती है, कौन हिंसा करता है,

किस कारण करता है और उसका परिणाम क्या होता है, इन बातों के भली-भाति ज्ञान के लिये श्रमण सस्कृति मे चार विद्याएँ मानी गई है ।

१ आत्म विद्या ।
२ कर्म विद्या ।
३ चारित्र विद्या और ।
४ लोक विद्या ।

जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, वनस्पति मे रहने वाले कीट, पशु, पक्षी की आत्मा और मानव की आत्मा तात्विक दृष्टि से सब समान है । श्रमण सस्कृति की आत्म विद्या का यह सार है । समानता के इस मूल सिद्धान्त को अप्रमत्त भावना से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे क्रियान्वित करने के प्रयत्न को ही अहिंसा कहा गया है । इसी सत्य की पुष्टि करने वाले आचाराग सूत्र का एक पद जिसका भाव है कि "जैसे तुम अपने सुख दु ख का अनुभव किया करते हो, ऐसे ही दूसरो के सुख दु ख का भी अनुभव किया करो ।" हम पहले उद्धृत कर आये है ।

जिस प्रकार आत्मसमानता अहिंसा के आचार का आधार है ठीक उसी प्रकार यह भी जैन सस्कृति का मन्तव्य है कि जीवो की शारीरिक और मानसिक विषमता चाहे कितनी ही क्यो न हो किन्तु वह कर्म मूलक है वास्तविक नही । निम्न से निम्न अवस्था मे पडा हुआ जीव भी मानव कोटि मे आ सकता है और क्षुद्रतम अवस्था का मानव जीव वनस्पति अवस्था मे आ सकता है । आत्मविकास द्वारा प्रत्येक जीव बन्धन से मुक्त भी हो सकता है । बन्धन एव मुक्ति का एक मात्र कारण कर्म है । इसी मान्यता को आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद भी कहते है ।

भारतीय दर्शनो को मुख्य रूप से दो धाराओ मे बाटा जा सकता है द्वैतवादी और अद्वैतवादी । साख्य, योग, बौद्ध और जैन द्वैतवादी हैं । अन्य सिद्धान्तो मे यद्यपि इनका पारस्परिक मतभेद है किन्तु अहिंसा के क्षेत्र मे ये सभी एकमत है । औपनिषद् परम्परा वाला अद्वैत-वादी सिद्धान्त अहिंसा का समर्थन तो करता है किन्तु समानता के आधार पर न करके अद्वैत के सिद्धान्तानुसार करता है । उसका कहना है कि तात्विक रूप से जैसे तुम हो वैसे ही सभी जीव शुद्ध, एक ब्रह्म-

रूप है। सब जीवो मे जो पारस्परिक भिन्नता दिखाई देती है वह वास्तविक नही है किन्तु अविद्या मूलक है। अतएव ससार के सब जीवो को अपने मे अभिन्न समझकर, उनके दुख को अपना ही दुख समझ कर हिंसा से दूर रहना चाहिये। इसी सत्य का समर्थन करते हुए जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित श्री सुखलालजी लिखते है।

"द्वैतवादी जैन परम्पराओ के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अन्तर केवल इतना ही है कि पहली परम्पराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मानकर भी उन सबमे तात्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती है, जबकि अद्वैतवादी परम्परा जीवात्माओ के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमे तात्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गति वाले जीवो मे दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखण्ड ब्रह्म है, जबकि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओ के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्व रूप से स्वतन्त्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखण्ड एक ब्रह्म मे से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओ के अनुसार जुदे-जुदे स्वतन्त्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव है। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त मे मे ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमश विकसित हुआ जान पडता है, परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद मे भी द्वैतवाद के विचारानुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो, पर अहिंसा की दृष्टि से महत्व की बात एक ही है कि अन्य जीवो के साथ समानता या अभेद का वास्तविक सवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।"

जैन धर्म का प्राण, पृष्ठ १०

उपर्युक्त विवरण से पाठको को यह भली-भाँति ज्ञात हो गया होगा कि अहिंसा का जितना सारगर्भित, सूक्ष्म और तात्विक विवेचन तथा विश्लेषण श्रमण सस्कृति मे हुआ है, उतना तुलनात्मक दृष्टि से अन्यत्र प्राप्त नही होता। सक्षेप मे अहिंसा तत्व श्रमण सस्कृति का प्राण है।

३

सत्य दर्शन

श्रमण-सस्कृति को छोडकर प्राय भारतीय एव पाश्चात्य सस्कृतियो का केन्द्र-बिन्दु रहा है—ईश्वर, भगवान्। उसे मदिरो, मस्जिदो, गिरिजाघरो और गुरुद्वारो मे खोजता रहा है मानव चिरकाल से। उस परमशक्ति को पाने के लिए अनेक धर्म ग्रन्थो की रचना हुई, जिनमे विविध प्रकार के कर्मकाडीय विधि-विधान है उस प्रभु की पूजा के और उपासना के। वह अपने निर्धारित धर्म स्थानो मे जाकर अनेक प्रकार की क्रियाओ द्वारा पूजन करता रहा है, चिन्तन करता रहा है, योगासन करता रहा है और खोज करता रहा है, परिणाम मे उसे पाने की, उससे मिलने की और उसमे खो जाने की। ऊँचे से ऊँचे पर्वतो पर उसने मन्दिरो का निर्माण करवाया, उनमे प्रतिमाओ की स्थापना करके प्रतिमाओ मे प्रभु को पाने का प्रयत्न किया। दूरस्थ तीर्थो की लम्बी और कष्टसाध्य पैदल यात्रा करके मनुष्य ने वहाँ स्नान किया, कर्म मल के धुलने की कल्पना से और आशा बाधी प्रभु-मिलन की। बडे-बडे सन्तो, महन्तो, ऋषियो और महर्षियो के आश्रमो मे भटकता रहा—मानव का जीव, प्रभु मिलन की आशा मे। वह अनेक बार निराश हुआ, प्रतिक्रिया के रूप मे उसने विद्रोह भी किया ईश्वर के विरुद्ध। वह चार्वाक के रूप मे पूर्णरूपेण नास्तिक भी बन गया, किन्तु उसे किनारा न मिला।

भ्राति मे भटकते उस भौतिकवादी जीव को करुणा से भरे भगवान् महावीर ने सान्त्वना देते हुए, प्रतिबोध देते हुए, उसकी सुप्त अन्तर-चेतना को जगाते हुए और उसके अन्तस को जीवनदर्शन की वास्त-विकता के आलोक से आलोकित करते हुए कहा था—

"सच्चं खु भगवं ।"

—प्रश्नव्याकरण, २-२

अय ससार के अज्ञानान्धकार मे भटकने वाले वटोही ! तू खोज तो सत्य की कर रहा है किन्तु चल रहा है असत्य के मार्ग पर। तुमने जिन मार्गों का आश्रय लिया है, जिन पगडण्डियो पर तू कदम वढा रहा है सत्य के परमोत्कृष्ट उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए, वे सब पथ अन्त मे तुम्हे वहाँ लाकर खडा कर देगे जहाँ निराशा के स्थान पर तुम्हारे हाथ कुछ भी तो नही लग सकेगा। तुम वाहर के मार्गो पर चल रहे हो। वहिर्मुखी प्रवृत्ति का त्याग करो, अन्तर्मुखी बनो। पृथ्वीमार्ग पर होती हुई कोई पगडण्डी तुम्हारे इष्ट देव तक नही जाती। वह पगडण्डी तो तुम्हारे अन्तर से होती जाती है। अन्तर का मार्ग लम्बा नही है। मार्ग छोटा है किन्तु है प्रयत्नगम्य। अध्यवसायी बनो, पावन वनाओ उस पथ को अपनी तपश्चर्या द्वारा। बस, फिर क्या है ? जिसे तुम पाने के लिए वाहर भटकने फिरते हो उस भगवान् को अपने अन्दर ही विराजमान पाओगे। तुम्हारा आत्मा ही स्व स्वरूप मे भगवान् है, वही जीवन का वास्तविक सत्य है। या फिर दूसरे शब्द मे हम यह कह सकते है कि सत्य ही भगवान् है और भगवान् ही सत्य है। वेदान्त दर्शन की ये उक्तिया—'तत्वमसि' अर्थात् वह ईश्वर तुमसे भिन्न नही है, तू स्वय ही ईश्वर है। 'जीवो ब्रह्मैव केवलम्' जीव ही तो साक्षात् ब्रह्म है—भगवान् महावीर के 'सत्य ही भगवान् है, इस सत्य को पुष्ट करती है। इसी चिंतन-धारा का प्रभाव बहुत वाद के हिन्दी सत-कवियो की चिन्तन-धारा पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक सत कवि का कथन है—

"ढूढन चाल्या ब्रह्म को ढूढ फिरा सब ढूढ।
जो तू चाहे ढूढना इसी ढूढ में ढूढ ॥"

अर्थात्—हे जीव ! तू ईश्वर को ढूढने के लिए चला था और तुमने कोई स्थान बिना ढूढे नही छोडा। वह कही भी तो नही मिला तुम्हे। यदि तू वास्तव मे उसे पाना चाहता है तो अपने अन्दर ही उसको ढूढ। बाहर कही भी नही है वह, तुम्हारे ही अन्दर है।

अन्तर मे बैठे उस भगवान् को रिझाने के लिए तुम्हे सुवर्ण के अलकारो की, हीरे-जवाहरातो की, वस्त्रो की, फूलो की, फलो की और धूप-दीप-नैवेद्य-किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है। उसे तो मात्र तुम्हारे पावन भावो की आवश्यकता है। वह सत्य भगवान् स्वय अपने मे पावन है। जिस पगडण्डी पर से होकर जाना है उसे भी पावन बनाना होगा। वह आक्रान्त है क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे डाकुओ से। साधना द्वारा उस पगडण्डी को मुक्त करना होगा, इन अपावन शत्रुओ से। अहिसा, सयम और तप के माध्यम से ही उक्त चार कपाय-शत्रुओ का विनाश सम्भव है। शत्रुओ के नष्ट होते ही साधक का मार्ग प्रशस्त बन जायेगा। साधना की पगडण्डियो पर क्रमश आरूढ होता हुआ जीव आध्यात्मिक उच्चता के उस धरातल पर पहुँच जायेगा, जहाँ उसे देवता भी प्रणाम करने चले आयेंगे।

श्रमण सस्कृति की कहो या भगवान महावीर के सिद्धान्तो की कहो, यह भी अपनी निराली विशेषता है कि इसमे जीव को देवी देवताओ के चरणो मे शीश झुकाने की या किसी विशिष्ट परम शक्ति के चरणो मे अभिवन्दन करने की प्रेरणा नही दी जाती, प्रत्युत प्रत्येक जीव को आध्यात्मिक साधना के उच्च धरातल तक पहुँचने की प्रेरणा दी जाती है, जहाँ देवता भी स्वय आकर उसके चरणो मे प्रणाम करते है।

"देवा वि त नमंसति।"

—दशवैकालिक, १-२

अर्थात्—धार्मिक व्यक्ति के चरणो मे देवता भी नमस्कार करते है।

भगवान् महावीर की इस उक्ति मे श्रमण सस्कृति का एक और भी सारगर्भित तत्व छिपा प्रतीत होता है। वैदिक सस्कृति के अनुसार

स्वर्गकामो यजेत्।

अर्थात्—स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा करने वाले प्राणी को यज्ञ करना चाहिए। ऐसा विधान है। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक सस्कृति मृत्युलोक से देवलोक को प्रधानता स्वीकार करती है। या दूसरे शब्दो मे देवलोक को मृत्युलोक से उत्तम समझती है। किन्तु श्रमण सस्कृति का यह कथन है कि "धार्मिक, सयमी और केवली

जीव के चरणो मे तो स्वय देवता भी आकर झुकते है" मृत्युलोक की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

गौतम स्वामी ने जब भगवान् महावीर से पूछा कि मृत्युलोक का एक पूर्ण सयमी साधक सीधा मोक्ष क्यो नही चला जाता, वह देवलोक मे क्यो जाता है ? तो भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर मे कहा—

"कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जति ।"

—भगवती सूत्र, श० २, उ० ५

अर्थात्—"हे गौतम ! जब जीव के कर्मो का क्षय होना कुछ अवशिष्ट रह जाता है, तभी उसे देवलोक मे जाना पडता है।" लाचारी है, वह प्रसन्नता से वहाँ नही जाता।

आगे चल कर उत्तरकाल मे उक्त सत्य की—"देवता भी इस धरित्री पर मनुष्य योनि मे जन्म लेने के लिए लालायित रहते है",—पुष्टि करते हुए श्री विनयचन्द जी अपनी चौबीसी के एक स्तवन मे कहते है—

"मानस जनम पदारथ जिणरी,
आशा करत अमर रे . . ।
ते पूरब सुकृत कर पायो,
धरम-मरम दिल धर रे ॥"

इस प्रकार श्रमण सस्कृति जीव को बहिर्मुखी प्रवृत्ति से रोककर उसे अन्तर्मुखी बनाती है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मे रमण करता हुआ जीव, जीवन दर्शन के परम सत्य को पहचान लेता है। बस, जीवन का परम सत्य स्वय जीव ही है, और उसे ही जैन दर्शन मे भगवान् माना गया है।

सत्य : आत्मा का सहज गुण

आत्मा स्वभाव से ही पवित्र है। जो पवित्र होता है उसकी अभिव्यक्ति कभी अपवित्र नही हो सकती। यह लोक-प्रचलित मान्यता है कि बालक जन्म से निर्विकार होता है, अत वह जो कुछ कहता है वह सत्य-पूत होता है। सत्य बोलना उसे सिखाया नही जाता किन्तु वह तो उसका सहज गुण होता है। इसके विपरीत असत्य

बोलना तो उसे सिखाया जाता है।

स्काटलैण्ड के एक बालक की सत्यप्रियता की घटना यहाँ स्मरण हो आई है। एक वार स्काटलैण्ड के निवासियो ने इगलैड के राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उनके दुर्भाग्य से वह विद्रोह सफल न हो सका। इगलैड की सेना ने उसे बुरी तरह से कुचल दिया। विद्रोहियो को श्रेणी मे खडा करके गोली से उडाया जाने लगा। एक कतार मे एक अल्पायु बालक भी खडा था। उस बालक को देखकर सेनापति का हृदय दयार्द्र हो गया। उस बालक को कहा—

"बच्चे, यदि तुम क्षमायाचना कर लो तो तुम्हे मृत्यु-दण्ड से मुक्ति मिल सकती है।"

लडके ने सेनापति की सम्मति को स्वीकार नही किया। इस पर पुन सेनापति ने कहा—

"मै तुम्हे २४ घण्टे का अवकाश देता हूँ इस वीच तुम अपने सगे—सम्बन्धियो से जाकर मिल आओ।"

वच्चा चला गया। वह तो माँ का इकलौता बेटा था। वह सीधे अपनी माँ के पास गया। माँ को समाचार मिल चुके थे। वह मृत्यु दण्ड के शिकार अपने बच्चे के वियोग मे घर पर मूर्च्छित पडी हूई थी। वह जब होश मे आई तो बच्चे ने कहा—

"माँ मै आ गया हूँ।"

अपने इकलौते बेटे को मृत्यु–दण्ड के मुख से बचा हुआ जान कर मा को अपार हर्ष हुआ और उसने बच्चे को गले लगा कर जी भर कर प्यार किया। जव २४ घण्टे का निश्चित समय समाप्त हो गया तो वच्चा जाने की तैयारी करने लगा। बच्चे को तैयारी मे लगे देख माँ ने पूछा—

"वेटा! कहाँ जाने को तैयार हो रहे हो?" बच्चे की आखो से आँसुओ की झडी लग गई। वडी कठिनाई से अपने आपको सभाल कर वोला—

"माँ। मुझे सेनापति ने केवल २४ घण्टे की छुट्टी दी थी। अव मैं मृत्यु-दण्ड पाने के लिए वापिस जा रहा हूँ। वचन जो दे आया था

सेनापति को। अव तो अपने प्रतिपालक भगवान् पर ही भरोसा रखना होगा तुम्हे।"

अपनी माता को कुछ भी कहने का समय न देकर वच्चा चला गया और सेनापति की सेवा मे उपस्थित हो गया। सेनापति को तनिक भी आशा नही थी कि वच्चा फिर लौट आयेगा। वह बच्चे की सत्य-परायणता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने तुरन्त उसे छोडने की आज्ञा दी।

तो, ऐसा होता है स्वभाव से सत्यपरायण वालक का अन्त करण। असत्य का श्रीगणेश।

जैसा कि हम लिख आये है, वच्चे को असत्य वोलना सिखाया जाता है। उसके सहज गुण को दवा कर उस पर कृत्रिम दुर्गुण को थोपा जाता है। उसकी असत्य भाषण की शिक्षा का श्रीगणेश घर पर उसके माता-पिता ही करते है। खाद्यन्नो मे मिलावट की सामग्री प्राय घर पर ही तैयार होती है, काले वाजार की योजनाएँ भी घर पर ही वनती है, चोर वाजारी के धन को छुपाने की व्यवस्था भी घर पर होती है। निर्मल हृदय बालक जव पूछते है कि क्या हो रहा है तो उन्हे कहा जाता है—अगर कोई पडोसी पूछ भी ले तो उसे ऐसे कहना, अर्थात् झूठ वोलना। धीरे-धीरे माता-पिता से सुनते-सुनते वच्चे के मन पर ये सस्कार पड जाते है कि वास्तविकता अर्थात् सत्य को छिपा कर अवास्तविकता—झूठ को प्रकट करना ही जीवन है। जैसे जल की एक लहर अनेको लहरो को जन्म देती है ठीक इसी प्रकार एक विकार से अनेक विकार उत्तरोत्तर मानव-मन मे घर कर जाते है। अन्त मे स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि जीव पूर्णरूपेण कषायो से आक्रान्त हो जाता है। उसका सत्य-स्वरूप दब जाता है और असत्य रूप प्रकट हो जाता है। उस स्थिति मे जीव के मन, वाणी और कर्म मे सर्वत्र असत्य छा जाता है। परिणामस्वरूप वह जीवन के व्यवहार मे, आचार मे और विचार मे सर्वत्र असत्याचरण करता हुआ पतनोन्मुखी बन जाता है।

असत्य का मूल स्रोत

यदि हम यह कह दे कि कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ असत्य

का मूल स्रोत है तो इसमे अत्युक्ति नही होगी। क्रोधाभिभूत मनुष्य द्वारा बोला गया असत्य तो असत्य होता ही है किन्तु सत्य भी असत्य बन जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सत्य आत्मा का सहज गुण है—स्वस्थिति है। इसके विपरीत क्रोधादि कपाय आत्मा का दूषण है, उसके सहज गुण पर आवरण है। क्रोध की अवस्था मे आत्मा दूषित हो जाती है। दूषित आत्मा से निकला हुआ सत्य भी दूषण के मिश्रण से अशुद्ध हो जाने के कारण असत्य ही माना जाता है। क्रोध की स्थिति मे विवेक शून्यता के कारण असत्य की ही अभिव्यक्ति प्राय होती है। इसी प्रकार जब मन मे अहकार भरा हो तब भी अहमन्यता के नशे मे असत्य का उद्भव तो होता ही है किन्तु सत्य भी बोला जाये तो जैन दृष्टि से असत्य ही बन जाता है। लोभग्रस्त मानव तो सर्वथा विवेकशून्य होता ही है। उसके असत्य का जनक होने मे तो तनिक भी सदेह नही है। आज का व्यापारी वर्ग इस सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रतिदिन व्यापारियो की नई-नई चोरियाँ सग्रह की, काले धन की, विदेशी वस्तुओ के अवैध तरीके से लाने की आदि प्रवृत्तियाँ पकडी जाती है जिनकी आधार शिला असत्य ही है।

उक्त चारो कषायो के आत्मा या सत्य पर छा जाने से उसके सहज गुण आवृत हो जाते हैं। इसी भाव को अभिव्यक्ति देते हुए 'ईशावास्योपनिषद' के एक महर्षि ने कहा है—

हिरणमयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्व पूषन्नापावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये ॥

अर्थात्—सुवर्ण के पात्र से सत्य के मुख को ढक दिया गया है।

यहाँ सुवर्णमात्र से अभिप्राय उन अज्ञानमय और भ्रांतिपूर्ण मान्यताओ से है जो सत्य को ढके रखती है और उसे प्रकाश मे नही आने देती। अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि प्राणी के लिए चारो कषाय कम आकर्षक नही है। मिथ्यादृष्टि प्राणी कषायो की कालिमा मे भ्रमित हुआ सत्य को या आत्मस्वरूप को पहचान नही पाता जिसके परिणामस्वरूप वह ससार-सागर मे अनन्तकाल तक भटकता रहता है। तभी तो शास्त्रकार मानव को बार-बार सचेत करते हुए कहते है—

'जे ते उ वाइणो एव न ते संसारपारगा ।'

सूत्रकृतांग-१-१-१-२१

अर्थात्—जो असत्य की प्ररूपणा करते है, वे ससार-सागर को पार करने मे कदापि सामर्थ नही हो सकते ।

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।'

अर्थात्—जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा मे उपस्थित रहता है, वह मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है या जन्म-मरण के बन्धनो को काट डालता है ।

सत्य की भावना या सत्य का अन्तर्जगत विराट है और असत्य की कृत्रिमता और सासारिक क्षेत्र भी विराट है । प्रथम मोक्ष की ओर प्रवृत्त कराता है और दूसरा नरक की ओर । किस मार्ग पर चलना श्रेयस्कर होगा, इसकी पहचान सम्यग्दृष्टि कर सकता है, मिथ्या दृष्टि नही ।

साधक यदि सत्य को या अपने ही सहज स्वरूप को पहचानना चाहता है तो उसे सर्व प्रथम विवेक द्वारा सत्य की वास्तविकता से और महानता से अपने मन को अनुप्राणित करना चाहिये । मन यदि सत्य से पावन बन गया तो फिर वाणी से भी सत्य अभिव्यक्त होगा और वाणी की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से सत्यकर्म मे प्रस्फुटित होगी । मन, वाणी और कर्म की एकरूपता को भी शास्त्रकार सत्य का स्वरूप मानते है—

'काय-वाड्-मनसामृजुत्वमविसवादित्व च सत्यम् ।'

—मनोनुशासनस ६-३

अर्थात्—शरीर, वाणी एव मन की सरलता तथा अविसवादित्व 'कथनी-करनी मे एकरूपता' को सत्य कहा जाता है ।

विवेक, ज्ञान और उदात्त भावो से ही जीव सत्य का सहज गुण जागृत होता है । सत्य के सहज गुण के जागृत होते ही उसके दिव्य प्रकाश से कषाय, भय, स्वार्थ आदि सभी विकार स्वत तिरोभूत हो जायेगे । जैसा कि हम कई स्थानो पर निर्देश करते आये है कि यह

सत्य सहज स्वरूप मे होना चाहिए दबाव के प्रभाव मे आकर नही, स्वार्थ के वशीभूत होकर नही, तृष्णा से अभिभूत होकर नही, और भय के कारण नही । सत्य की साधना करने वाला साधक भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी सत्य के मार्ग से विचलित नही होता । सत्य की शिक्षा देने वाले, सत्य का समर्थन करने वाले, सत्य का पक्ष लेने वाले अनेको व्यक्ति हो सकते है परन्तु सत्य को जीवन मे उतारने वाले और सत्य के पालन के लिए घोर से घोर आपत्ति आने पर भी अपने पथ पर अडिग रहने वाले व्यक्ति ससार मे विरले ही होते है । इटली मे ईसाई चर्चो मे धर्म के नाम पर सरकार मे विशेप विधि-विधान को लेकर घोर दुराचार और भ्रष्टाचार का बोलबाला था । सन्त सावोनएला ने इनके विरुद्ध आवाज उठाई और बहुत सुधार किया । धर्मान्ध और रूढीवादी ईसाईयो को यह सुधार और सत्य की स्थापना अच्छी नही लगी । सत्य के विरोधी इन मूर्ख शत्रुओ ने सन्त सावोनएला का सामाजिक बहिष्कार करवा दिया और अन्त मे उसे फासी के तख्ते पर लटका दिया गया । अपने जीवन के अंतिम क्षण तक सन्त सत्य के मार्ग पर अविचल रहा ।

यह बहुत पुरानी बात नही है । गत शताब्दी मे यूरोप के अनेक प्रदेशो मे गिरिजाघरो के पोपो का आधिपत्य और पाखण्ड प्राय सर्वविदित है । ये पोप स्वर्गलोक मे भक्तो की सीट के अग्रिम आरक्षण के बहाने उनसे लाखो रुपये लूट लेते थे । वे अपने आपको एक अलौकिक या दिव्य शक्ति मानते थे । भोली-भाली अन्ध-विश्वास के कीचड मे धसी जनता उनका अन्धानुकरण करती हुई अपना सर्वस्व लुटाती जा रही थी । इस पाखण्ड, अत्याचार और अन्धविश्वास के विरुद्ध महान् लूथर ने विद्रोह किया । उसने कहा कि मानव अपने पुरुषार्थ से सत्कर्मो के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है । दूसरा कोई उपाय नही । पोपो के द्वारा दिया गया स्वर्गलोक का पासपोर्ट जाली है, झूठा है और धोखे से युक्त है । लूथर ने जिस सत्य का शखनाद किया उसके विरुद्ध स्वार्थी और पाखण्डी पोपो ने विरोध का बडा भयानक तूफान खडा कर दिया । सर्वप्रथम उसका बहिष्कार किया गया । तत्पश्चात् लूथर प्रधान पोप की क्रोधाग्नि का शिकार बना, उस पर उग्र प्रहार किये गये । सत्य का साधक एव प्रचारक

वह महान् लूथर अपने पवित्र मार्ग पर अविचल रहा। और अन्त मे 'सत्यमेव जयते' अर्थात्—'सत्य की ही विजय होती है' की उक्ति के अनुसार लूथर के सत्याधारित सिद्धान्त की ही विजय हुई।

सुकरात ने बुद्धिवाद का प्रचार करके अपने सत्य को अभिव्यक्ति दी थी और यूनान मे ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न किया था। उस पर यूनान के अधिकारियो ने नवयुवको को धर्म भ्रष्ट करने का आरोप लगाया और उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा। सुकरात हँसते-हँसते विष का प्याला पी गया किन्तु अपने सत्यपथ से विचलित नही हुआ।

ये है कतिपय उदाहरण उन सत्य के पुजारियो के, सत्य के साधको के और सत्य पर दृढ रहने वालो के जिन्होने सत्य की रक्षा के लिए हँसते-हसते अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये। उन्होने समझ लिया था सत्य के तत्व को, सत्य की व्यापकता को सत्य की सम्पूर्णता को, सत्य के सार को और सत्य की अतल गम्भीरता को। तभी तो शास्त्र घोषणा करता है—

सच्चं लोगम्मि सार भूय
गम्भीरतर महासमुद्दाओ।'

—प्रश्नव्याकरण २-२

अर्थात्—ससार मे सत्य ही सारभूत है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है।

मानव कितना ही धनवान् हो, ज्ञानवान हो, कान्तिवान् हो, करूणा निधान हो, बलवान् हो, श्रद्धावान् हो और धर्मध्यान मे निष्ठावान् हो किन्तु यदि वह सत्य-दर्शन से वचित है तो वह अन्ड्वान् ही है, भ्रातिमान् ही है और अज्ञानवान् ही है। तभी तो अज्ञानी मानव को सचेत करते हुए शास्त्राकार कहते हैं—

'पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि॥'

—आचाराग, १-१-३

अर्थात्—हे मानवो! और सब बातो को बेशक ताक पर रख दो, केवल मात्र सत्य की पहचान कर लो। जो सत्य को जानता है वह सब कुछ जानता है।

सत्य अन्य सब तत्वो से महान् क्यो है, इस तथ्य को स्पष्ट करते एक आचार्य लिखते है—

सच्चं जसस्स मूल, सच्च विस्सासकारणम्।
सच्चं सग्गद्दार, सच्चं सिद्धि इ सोपाण॥

—धर्म संग्रह, अधि० २, श्लोक २६

अर्थात्—सत्य यश का मूल कारण है। दूसरो का विश्वास प्राप्त करने का सत्य मुख्य साधन है। सत्य के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होनी है और जीवन मे प्राप्त होने वाली सफलताओ की तो यह सोपान है।

सत्य के भेद

तात्विक दृष्टि से देखने से सत्य अपने आप मे पूर्ण है, उसके भेद नही हो सकते। जो सत्य है वह तो सत्य ही रहेगा, वह असत्य कैसे हो सकता है? किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत्य के भेद किये जा सकते है। जो सत्य असत्य से प्रभावित होकर अपनी वास्तविकता मे परिवर्तन करदे वह झूठा सत्य कहलाता है। सत्य असत्य से प्रभावित न हो वह सच्चा सत्य बना रहेगा। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति मे पूर्वजन्म के सस्कारो के कारण अथवा इस जन्म की ससार की स्वार्थमयी प्रवृत्तियो या परिस्थितियो के कारण विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह सासारिक जीवन का परित्याग करके सन्यासी होना चाहता है। परन्तु सगे-सम्बन्धियो के दबाव या प्रभाव मे आकर वह ससार का त्याग नही करता। उसकी भावना वास्तव मे सत्य थी किन्तु दूसरो की बातो से प्रभावित होकर उसने सत्य का अनुसरण नही किया। उसके सत्य को झूठा सत्य ही कहना पडेगा। दूसरे प्रकार के सत्य के साधक वे व्यक्ति होते है जो अपने सत्य-मार्ग पर इतने दृढ होते है कि यदि सारा ससार भी उनके विरुद्ध हो जाये तव भी अपने मार्ग का त्याग नही करते। ऐसा सत्य वास्तविक सत्य कहलायेगा। सत्य के लिए विपपान भी करना पडे, सूली पर भी लटकना पडे और फासी पर भी चढना पडे तो भी वे हँसते-हँसते उस यातना को सहन कर लेते है। वे मिट जाते है किन्तु सत्य कभी नही मिटता। सत्य तो अमर है। ऊपर हमने लूथर और सुकरात आदि के

उदाहरण प्रस्तुत किये हे वे वास्तव मे ऐसे ही सत्यमार्ग के उपासक थे।

जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर आये हे कि सत्य का स्वरूप विराट् हे सत्य की मीमा असीम है और सत्य जीवन के सव तत्वो का सम्राट है। आत्मा का दूमरा नाम सत्य है, भगवान् का दूसरा नाम सत्य है और मत्यवचन का स्वरुप सत्य है। ऊपर हमने जो सत्य के दो भेद किये हे वे वर्तमान लौकिक व्यवहार को देखते हुए अपनी दृष्टि से किये ह । व्यवहार की दृष्टि से प्रचीन आचार्यो ने सत्यवचन को दस भेदो मे विभक्त किया हे। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसके उसी स्वरूप का कथन करना 'सत्यवचन' कहलाता है। जैसे शव्द एक ही हो किन्तु भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे उसके अर्थ अलग-अलग हो । ऐसी स्थिति मे यदि शव्द प्रयोक्ता की विवक्षा उचित हो तो उस शव्द के दोनो अर्थ सत्य माने जायेगे। उदाहरण के लिए 'बाई' शव्द राजस्थानी भापा मे स्त्री वाचक है किन्तु पजाव के मालवा प्रान्त मे 'बाई' पिता को कहते हे । दोनो प्रान्तो के शव्द प्रयोवताओ की अपनी-अपनी विवक्षा से दोनो अर्थ सही माने जायेगे। इस प्रकार विवक्षा को ध्यान मे रखते हुए आचार्यो ने सत्य-वचन के दस भेद किये है जो इस प्रकार हैं—

> **जणवय, सयम, ठवणा,**
> **नामे, रूवे या पडुच्चे य।**
> **ववहार, भाव, जोगे य,**
> **दसमे ओवम्म सच्चे य॥**
>
> **—ठाणाग सूत्र, १०वां स्थान**

१—जनपद सत्य

जिस देश मे जो वस्तु जिस नाम से पुकारी जाती है, वह नाम वहाँ सत्य है। 'बाई' का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

२—सम्मत सत्य

प्राचीन विद्वानो ने जिस शव्द का जो अर्थ निर्धारित कर दिया हैं वही सत्य माना जायेगा यद्यपि निरुक्ति करने पर उसके अनेक अर्थ निकल सकते है। जैसे पकज की निरुक्ति करने पर तो उसके अर्थ

निकलेगे पकात् जात —पकज , अर्थात् कीचड से पैदा होने वाला । कीचड से तो शैवाल भी पैदा होता है, मेढक भी पैदा होते है किन्तु पकज से अर्थ कमल का ही लिया जाता है । इसका कारण है पकज का कमल अर्थ विद्वान् सम्मत है, इसलिए इसको सम्मत सत्य कहते हैं ।

३—स्थापना सत्य

सदृश या असदृश आकृति वाली किसी वस्तु मे किसी की स्थापना करके उसे उस नाम से पुकारना 'स्थापना सत्य' कहा जाता है । शतरज के मोहरे हाथी, घोडे तो नही होते किन्तु उनमे हाथी-घोडे की स्थापना करके उन्हे हाथी-घोडा कहा जाता है । आचाराग आदि तो श्रुत-ज्ञान स्वरूप है, लिखे हुए शास्त्रो मे उनकी स्थापना कर लेना 'स्थापना सत्य' है ।

४—नाम सत्य

गुण के अभाव मे भी किसी व्यक्ति विशेष का तद्गुण सम्पन्न नाम रख देना । जैसे खाने का ठिकाना नही, नाम रख दिया करोडीमल । नाम तो हो रूपचद और शकल से हो लगूरचन्द ।

५—रूप सत्य

वास्तविक्ता के सर्वथा अभाव होने पर भी किसी को उसके रूप विशेष के कारण उस नाम से सम्बोधन करना रूपसत्य कहलाता है । जैसे गेरूए रग के वस्त्र पहनने के कारण लोग किसी को साधु या सत समझते है चाहे उसमे साधु का कोई भी लक्षण न हो ।

६—प्रतीतसत्य या अपेक्षा सत्य

अपेक्षा की दृष्टि से वस्तु को छोटी या बडी कहना अपेक्षा सत्य या प्रतीत सत्य है । उदाहरण के लिए मध्यमा अगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहा जाता है ।

७—व्यवहार सत्य

जो बात व्यवहार मे बोली जाती है, वह व्यवहार सत्य है । सडक स्थिर है तो भी लोग कहते है कि यह सडक जोधपुर को जाती है और यह जयपुर को जाती है ।

८—भाव सत्य

निश्चय की अपेक्षा से कई अन्य गुणो के सद्भाव मे भी किसी को उसके विशिष्ट गुण के नाम से ही पुकारना। मोर के पखो मे और शरीर मे कई रग होते है उसका कठ नीला होने के कारण उसे नील-कण्ठ कहा जाता है।

९—योग सत्य

किसी विशिष्ठ कार्य को करने के कारण कर्ता को उस नाम से पुकारना योग सत्य होता है। लकडी का काम करने वाला 'लकडहारा' और लोहे का काम करने वाले 'लोहार' कहाते है।

१०—उपमा सत्य

तुलना के कारण किसी को उस नाम से पुकारना उपमा सत्य होता है। किसी व्यक्ति की नाक तोते के समान हो। तोते के नाक की और उसके नाक की समताधारित तुलना के कारण उसे 'तोताराम' कहकर सम्बोधित करना 'उपमा सत्य' कहलाता है।

सार

इस प्रकार भगवान् महावीर का यह सिद्धान्त कि सत्य ही भगवान् है और भगवान ही सत्य है तथा आत्मा स्वरूप मे परमात्मा ही है, पूर्णरूपेण सत्य है। सत्य की उपलब्धि के लिए आवश्यकता है—विवेकशीलता की, सम्यग् दृष्टि की और दृढता की। ये आधार शिलाएँ है सत्य की। जिसने सत्य को पहचान लिया उसने जीवन के तत्थ्य को जान लिया। शास्त्रकार सत्य को जीवन का सार स्वीकार करते है। सार इसलिए कि सत्य के बिना जीवन सर्वथा निस्सार है और दूसरे शब्दो मे मानव तन पाकर भी वह तो मानव योनि का परिहार है। सत्य को समुद्र से भी अधिक गभीर इसलिए बताया गया है कि समुद्र के समान महान् और विशाल आत्माएँ ही सत्य की प्राप्ति मे प्रयत्नशील रहती है। सत्य को सुमेरूपर्वत से भी अधिक स्थिर इसलिए कहा गया है कि सत्य के मार्ग पर अनेक घोर सकटो के समय मे भी सुदृढ आत्माएँ ही इसका पालन कर सकती है। चन्द्रमण्डल से भी सत्य को सौम्यतर इसलिए कहा गया है कि सत्यानुयायी जीव प्राणिमात्र के प्रति

समता के कारण स्वाभाविक रूप से सौम्याकृति बन जाता है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्त कहने का अभिप्राय है कि वह सत्य की शक्ति पाकर इतना तेजस्वी बन जाता है कि असत्य का अन्धकार कदापि उसके आगे टिक नही पाता। जैसा कि हमने लेख मे निर्देश किया है कि जीव मे सत्य का प्रवेश होते ही कषायादि सब विकार नष्ट हो जाते है। जहाँ जीव मे विकारो का अभाव हुआ कि निर्मलता आई। यही कारण है कि सत्य को शरत्कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल माना गया है। सत्य का साधक जिस स्थान को भी अपनी उपस्थिति से अलकृत करेगा वहाँ सत्य की सौरभ निश्चित रूप से फैलेगी, इसी लिए सत्य को गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सुगन्धि वाला बताया है। निम्नलिखित शास्त्र के वचन मे उपर्युक्त सत्य का निर्देश है

'तं लोगम्मि सारभूय, गंभीरतर महासमुद्दाओ,
थिरतरग मेरूपव्वयाओ, सोमतरगं, चदमडलाओ,
दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतर सरयनहयलाओ,
सुरभितरं गंधमादणाओ ॥'

—प्रश्नव्याकरण, सं० द्व ०२, सूत्र–२४

अस्तेय दर्शन

सामान्यरूप स तो 'अस्तेय' का अर्थ है

'अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा'

सूत्रकृतांग, १०-२

अर्थात्—विना आज्ञा के किसी की वस्तु को ग्रहण कर लेना स्तेय है और आज्ञा लेकर ग्रहण करना अस्तेय है।

अस्तेय तीसरा 'महाव्रत' है और स्तेय पाप है। जो व्यक्ति तीसरे महाव्रत का मन, वाणी और कर्म से पालन करता है, वह मोक्ष-मार्ग के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होता रहता है और जो स्तेय मे प्रवृत्ति रखता हुआ, पाप कर्म वाधता रहता है, वह नरक की गति मे जाने के लिए तैयारी करता है। दोनो वाते मानव के हाथ की है—चाहे वह प्रशस्त पथ ग्रहण कर ले, चाहे नारकीय। सामान्यरूप से जीव की प्रवृत्ति, बुरी बातो की ओर अधिक और अच्छी बातो की ओर कम रहती है। वह दूसरो की निन्दा और चुगली सुनने मे जितनी रुचि दर्शाता है उतनी दूसरो की प्रशसा और गुणगान मे नही। व्यापक रूप से मानवी प्रवृत्ति ऐसी क्यो है ? इसका उत्तर है—व्यापक रूप मे जीव द्वारा अशुभ कर्मो का चिन्तन और परिणाम स्वरूप पापकर्मो का अर्जन। उन असख्य अशुभ कर्मो मे से एक कर्म 'स्तेय' है, जिसे लोग भाषा मे चौर्य कर्म या चोरी कहते है।

आज के युग को यदि चोरी का ही युग कह दिया जाये, तो कोई अत्युक्ति न होगी। आज हम प्रत्यक्ष देख रहे है—राजनैतिक क्षेत्र मे, सामाजिक क्षेत्र मे, धार्मिक क्षेत्र मे और व्यापारिक क्षेत्र मे—सर्वत्र

चौर्यकर्म का बोलवाला है और इसी का एक छत्र राज्य है। चोर तो चोर है ही किन्तु जिसका कर्तव्य चोर को पकड़ना है, वह भी चोर है। प्रजा के अधिक सख्यक लोग तो चोरी की बीमारी के शिकार है ही किन्तु उन पर नियत्रण रखने वाले बडी सख्या मे शासक-वर्ग के लोग भी चौर्यकर्म को बडी लगन से, साधना से और अध्यवसाय से अपने जीवन मे उतार रहे है। बाहर से आने वाले तस्करी के माल मे, बडे-बडे राज्य कर्मचारियो का भी हाथ रहता है—यह तथ्य समाचार पत्रो के समाचारो से प्रमाणित होता है और एक खुला रहस्य है। सरकार के कठोर नियत्रण के सद्भाव मे भी करोडो रुपयो का तस्करो का माल, भारत मे प्रति मास आता है और लुकछिप कर यहाँ के बाजारो मे बिकता है यह बात सर्व-विदित है। बडे-बडे लोग इस तस्करी के काम मे पकडे जाते है, उन पर न्यायालयो और उच्च-न्यायालयो मे मुकदमे चल रहे है। कइयो को कारावास का दण्ड भी मिलता है किन्तु यह सब होते हुए भी, चौर्यकर्म मे किसी प्रकार की कमी नही आ रही।

बडे-बडे राज्यकर्मचारी उत्कोच-रिशवत लेकर, जो अन्यायपूर्ण कार्य है उसे करवा देते है और जो न्याय की दृष्टि से होना चाहिए उसे ठुकरा देते है यह न्याय की चोरी है, इसीलिये वे चोर है। सामान्य राज्य-कर्मचारियो की तो बात ही क्या, उच्च पदो को अलकृत करने वाले राजनीतिज्ञो पर भी न्यायालयो मे चलने वाले बडी चोरी के मुकद्दमो से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक वर्ग के कुछ लोगो की भी नीयत साफ नही है। ऐसी घटनाएँ रहस्यात्मक नही है अपितु प्रतिदिन दैनिक-पत्रो मे पढने को मिलती है।

'यथा राजा तथा प्रजा'

यह उक्ति त्रैकालिक विश्वसत्य है। अब तनिक दृष्टिपात कीजिए वर्तमान युग की सामाजिक चोरी पर। तुला-तराजू को कई प्राचीन एव अर्वाचीन शासको ने न्याय का प्रतीक माना है। कुछ राजाओ द्वारा चलाए गये सिक्को पर तराजू का चित्र अकित है, जो सबको न्याय दिलाने का प्रतीक है शासक द्वारा। वर्तमान युग मे न्याय के

प्रतीक उस तराजू की क्या दुर्दशा की है चोरी के धन्धे को सफल बनाने के लिए, यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। डण्डी मारने की कला मे तो व्यापारी सिद्ध हस्त होता ही है, उस कला के द्वारा ग्राहक को कम माल तोलकर देना और शेष की चालाकी से चोरी कर लेना तो उसके बाएँ और दाये दोनो हाथो का सामान्य खेल है किन्तु माल लेने के बाँट और रखना और देने के बाँट और प्रयोग मे लाना—यह उसकी चोरी की कला और प्रकाश मे आई है। व्यापारी की चोरी की चतुराई, मात्र जनता तक ही सीमित नही है, वह सरकार पर भी बडी सफाई से, सफलता पूर्वक अपना हाथ साफ करना जानता है। 'बहियें' दो प्रकार की रखता है—असली और नकली। एक सरकार को दिखाने की और दूसरी घर मे रखने की, जिसमे असली रकम जमा की जाती है। इस प्रकार व्यापारी-वर्ग अरबो रुपयो की सरकार की चोरी करता है। सरकार उसे पकडने का कोई मार्ग निकालती है तो वह उससे बचने का बडी चतुराई से अन्य मार्ग निकाल लेता है। सरकार व्यापारी पर भारी कर लगाकर उसे दबाना चाहती है, तो वह सारा भार उपभोक्ता पर डालकर, उस सकट से 'साफ साफ' बचकर निकल जाता है। पिसते है मध्यम वर्ग के लोग, शोषण होता है बेचारे पहले से ही अभावग्रस्त लोगो का, अन्न-वस्त्र के लिए तरसना पडता है बेचारे निर्धन-वर्ग को। व्यापारी-वर्ग द्वारा अपनाये गये चौर्यकर्म के परिणाम स्वरूप असख्य प्राणी शोषण, के अभाव के और असह्य यातनाओ के शिकार बनते है। चोरी के पाप द्वारा कमाये गये इस धन मे से कुछ राशि धार्मिक-सस्थाओ को दान मे देकर कुछ शोषक अपने पापकर्म को धोने का प्रयत्न करते है किन्तु कीचड से कीचड का धुलना कदापि सम्भव नही होता। पाप द्वारा अर्जित किया हुआ धन पाप को नही धो सकता। ये लोग भले ही अल्प समय के लिए लोगो की प्रशसा के पात्र बन जाये किन्तु आज के बौद्धिक युग मे जनता अपने हित-अहित की ओर पूरी तरह से सजग है, उस पर ऐसे कृत्रिम और स्वार्थ पूर्ण दान का कोई प्रभाव पडने वाला नही है।

'चोरी' अदत्तादान का दूसरा नाम है। उधर हमने व्यापारीवर्ग द्वारा चोरी के लिए अपनाये गये जिन तरीको का जिक्र किया है

क्या वे 'अदत्तादान' के अन्तर्गत आते हं, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक भापा मे देते हुए शास्त्रकार कहते हं।

'स्तेन प्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धज्यातिक्रम।
हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहारा ॥

तत्वार्थ सूत्र, ७-२२

अर्थात्—चोर को चोरी कराने का तरीका वताना, चोर द्वारा चुराकर लाई गई वस्तुओ को ग्रहण कर लेना, राजकीय मर्यादा या नियम का उल्लघन करना, छोटे-वडे नाप तौल रखना, वस्तुओ मे मिलावट करके बेचना और अच्छी वस्तु दिखाकर खोटी दे देना—ये सब अस्तेयव्रत के अतिचार है, अर्थात् एक प्रकार की चोरी है।

शास्त्रकार के वचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मिलावट करके वस्तुओ को बेचना और अच्छी वस्तु दिखाकर वुरी वस्तु ग्राहक को दे देना, इन दोनो पापमय व्यापारिक चोरियो का प्राचीन युग मे भी अभाव नही था भले ही उनका रूप इतना निन्दनीय न हो जितना कि आजकल है। आज कल तो ये दोनो प्रकार की चोरियॉ अपनी चरम सीमा को भी पार कर गई है। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली मे पार्लियामैंट के एक सदस्य ने पार्लियामैंट में कहा था, कि देश मे खाद्य पदार्थों मे इतनी व्यापक रूप से मिलावट है कि यदि कोई शुद्ध जहर भी खरीदना चाहे तो वह भी मिलावट वाली मिलेगी। उसकी यह वात शत प्रतिशत सत्य थी। स्वार्थ के वशीभूत होकर असली खाद्यान्नो मे नकली विकृत वस्तुओ के मिश्रण द्वारा धनार्जन करना एक दण्डनीय सामाजिक एव राष्ट्रीय चोरी है। विकृत पदार्थो के मिश्रण के उपभोक्ता अनेक प्रकार के असाध्य रोगो से ग्रसित होकर अपने जीवन तक से भी वचित हो रहे है। इस प्रकार की चोरी से चोर-व्यापारी भयानक पापकर्म बाधता है। कई बार तो उसे उस पापकर्म का फल इसी लोक मे भोगना पड जाता है। कलकत्ते का एक घी का व्यापारी घी मे ऐसी वस्तु की मिलावट करता था जिससे घी विष बन जाता था। उसके इस कुकृत्य से कितने ही उपभोक्ताओ को जीवन से हाथ धोने पडे। एक वार लापरवाही से उस व्यापारी की श्रीमती ने घर की रसोई मे भी जव उस घी का प्रयोग किया तो उस व्यापारी का सारा परिवार उसके समेत काल का ग्रास बन गया था। अपने स्वार्थ के लिए इस

प्रकार की चोरी करने वाला व्यक्ति, वास्तव मे मानव नही राक्षस है। वह अपने जीवन के लिए दूसरो के जीवन से खिलवाड करता है।

यह वात भी सर्वविदित हे कि किसी विदेशी कम्पनी ने भारत की एक जूतो की कम्पनी को जूतो के आयात के लिए करोडो रुपयो का आर्डर दे दिया था। नमूने के तौर पर तो भारतीय कम्पनी ने अच्छा माल भेज दिया परन्तु थोक मे जूतो मे कोरे गत्ते भर कर भेज दिये। विदेशी कम्पनी ने वह सारा माल वापिस लौटा दिया। इस प्रकार की चोरी के परिणाम स्वरूप सारे भारत का व्यापारी वर्ग तो वदनाम हुआ ही किन्तु इससे राष्ट्र भी निन्दा का पात्र बना।

व्यापारी-वर्ग जव तक हक की कमाई मे विश्वास नही करेगा तव तक उसका कल्याण सम्भव नही है। हक की कमाई फलती है और चोरी की चोर को दलती है और लोक को खलती है। चोर को प्रति-पल दण्ड मिलता रहता है। उसका मन कलकित होने के कारण सदा शकित रहता है और भयभीत रहता है कि कही उसका पाप प्रकाश में न आ जाये। जीवन का आनन्द मन की शान्ति में है, विक्षिप्तता मे नही। काश! कि व्यापारी वर्ग ने इस रहस्य को समझा होता।

अस्तेय की सौरभ और स्तेय की दुर्गन्ध कभी छिपाने से छिपती नही। हमे इस प्रसग मे आगरा के लाला बनारसीदास का चरित्र स्मरण हो आया है। आज से करीब तीन सौ वर्ष पूर्व आगरा मे एक लाला वनारसीदास नाम के व्यापारी रहते थे। जरी के कपडे खरीद कर, उनसे चादी निकाल कर वेचने का धन्धा करते थे। उनका दैनिक खर्चा वारह आने था। उन्होने किसी जैन सन्त से यह नियम ले रखा था कि कम से कम मुनाफा लेकर जब बारह आने का खर्चा चादी के व्यापार से वसूल हो जाये तो दुकान बन्द करके चले जाना। वे प्रतिदिन ऐसा ही करते थे। उनकी इस सचाई का आगरा नगर की जनता पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे सव की श्रद्धा के पात्र बन गये। एक रात, एक चोर सेध लगाकर उनकी दुकान मे घुस गया और जरी के वस्त्रो की गठरी बाध ली चुरा कर ले जाने के लिए। गठरी इतनी भारी थी कि प्रयत्न करने पर भी उसे उठाना कठिन हो रहा था। लाला वनारसीदास जग चुके थे और उन्होने चोर की कठिनाई को जान लिया था। वे बोले

"डरने की कोई वात नही, भागने की कोई आवश्यकता नही। मैं आकर अभी गठरी उठवा देता हू।"

उन्होने आकर गठरी चोर के सिर पर रखवादी और चोर नि शक चला गया।

चोर के घर मे उसकी माँ के अतिरिक्त कोई और सदस्य नही था। चोर ने अपनी माँ से कहा 'माँ' आज तो चोरी करने के लिए ऐसा भाग्यवान् घर मिला कि घर के स्वामी ने स्वय यह जरी की गठरी मेरे सिर पर रखवा दी।

माँ तुरन्त बोल उठी, 'वेटा' तो वह लाला वनारसी होगा। अरे वह तो बडा धर्मात्मा और हक की कमाई खाने वाला व्यक्ति है, तुमने उसके घर की चोरी करके वडा पाप किया है। सवेरा होते ही उसकी यह गठरी उसको वापिस भी कर आना और उससे इस अपराध के लिए क्षमा भी मागना। मैं भी तेरे साथ चलूगी और क्षमा मागूगी उससे तुम्हारे लिये।'

प्रात होते ही माँ चोर-वेटे के सिर पर गठरी रखवा कर चलदी लाला बनारसी की दुकान की ओर। जरी की गठरी वापिस करके माँ ने क्षमा माँगी लाला बनारसी से अपने पुत्र के अपराध के लिए। इस पर बनारसी वोला।

अरे बुढिया, तेरे बेटे ने चोरी की ही कब है जो तू क्षमा याचना कर रही है। चोरी तो होती है जो बिना आज्ञा के किसी की वस्तु को उठा लिया जाय। यह गठरी तो मैने स्वय तेरे बेटे के सिर पर रखवाई है, फिर यह चोरी कैसी ? एक बार दी गई वस्तु को मै पुन वापिस नही लिया करता। उस गठरी को न तो बनारसी ने वापिस लिया, न चोर और चोर की माँ ने। आखिर उसे बेचकर, उससे जो धन मिला उसे भिखारियो मे बाट दिया गया। आगरे मे उस युग मे अनेको चोर-व्यापारी होगे जिनका आज कोई नाम भी नही जानता किन्तु लाला वनारसी दास का नाम तीन सौ साल बीतने के बाद आज भी जनता की जवान पर है।

चोरी केवल द्रव्य की या किसी ठोस वस्तु की ही नही होती किन्तु कर्तव्य की चोरी, विद्या की चोरी, ज्ञान की चोरी आदि अनेक प्रकार

की चोरियाँ होती हैं। जो जिस व्यक्ति का कर्तव्य है, उसे यदि वह सचाई से पालन नही करता तो वह कर्तव्य का चोर कहा जायेगा। राज्य कर्मचारी, बैंक कर्मचारी, किसी प्राइवेट–उद्योग का कर्मचारी मासिक वेतन लेता हुआ यदि अपने कर्त्तव्य का पालन सही ढग से नही करता तो वह निश्चय ही कर्तव्य-चोर है। शिक्षक पारिश्रमिक लेकर भी यदि छात्रो को परिश्रम से नही पढाता तो वह शिक्षा-चोर कहलायेगा। गुरु शिष्य से सेवा का लाभ उठाकर भी यदि उसे सच्चे ज्ञान से वचित रखता है, तो वह ज्ञान-चोर होगा।

अहिसा नामक तत्व से जसे अन्य महाव्रत अनुप्राणित है, वैसे भी अस्तेय महाव्रत भी। अस्तेय मे अहिसा है और स्तेय मे हिसा। जिसका माल चुराया जायेगा उसका मन कितना दु ख पायेगा। किसी के मन को दु खाना हिसा है। शास्त्र का तो यहाँ तक कथन है कि —

एकस्यैकक्षण दु ख मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीव हृते धने॥

योग शास्त्र, २-६८

अर्थात्—किसी के मारने पर तो, उस अकेले को कुछ क्षण का ही दु ख होता है किन्तु किसी का धन हरण करने पर उसे और उसके पुत्र-पौत्रो को जीवन भर के लिए दु ख भोगना पडता है।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चोरी का पाप हिंसा से बढकर है या दूसरे शब्दो मे व्यापक हिंसा है। वास्तविकता यह है कि स्तेय या चौर्यकर्म मन का ऐसा विकार है जिसके सद्भाव मे मानव न तो अहिंसा महाव्रत का और न ही सत्य महाव्रत का पालन कर सकता है। जिस प्रकार गन्दा और कीटाणुओ से युक्त जल मानव-शरीर को रोगी बनाकर जर्जरित कर देता है, ठीक वैसे ही वर्तमान युग मे मानव की स्तेय मे प्रवृत्ति समाज एव राष्ट्र के कलेवर को अस्वस्थ बना रही है। मानव यदि स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ आत्मा की अवस्थिति चाहता है तो उसे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अस्तेय-महाव्रत का पालन करना होगा।

ब्रह्मचर्य दर्शन

तवेसु वा उत्तम बभचेर ।

सूत्रकृतांग, १-६-२३

अर्थात्—ससार मे आत्मकल्याण निमित्त जितने भी तपो का विधान है, उन सब मे श्रेष्ठतम ब्रह्मचर्य नाम का तप है।

शास्त्रकार का ब्रह्मचर्य महाव्रत को सव तपो मे श्रेष्ठतम मानना सकारण है। धर्म को उत्कृष्टतम मगल की घोपणा करते हुए शास्त्रकार कहते है —

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो ।
देवावि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

दशवैकालिक, १-१

अर्थात—धर्म सबसे उत्कृष्ट मगल है। अहिंसा, सयम और तपका नाम ही धर्म है। जिसका मन सदा धर्म मे लीन रहता है, उसके चरणो मे देवता भी नमस्कार करते है। दूसरे शब्दो मे जो अहिसा, सयम और तप की आराधना करते है, ससार की महानतम शक्तियाँ भी उनके सामने नतमस्तक हो जाती है।

धर्म की उक्त परिभाषा को दृष्टि मे रखकर विचार करे तो ब्रह्मचर्य—महाव्रत का पालन धर्म का मूल सिद्ध होता है। या यो भी कह सकते है कि विना ब्रह्मचर्य का पालन किये धर्म की सागोपाग आराधना कदापि सभव नही है 'अहिसा' जैन धर्म की रीढ की हड्डी है जिस पर श्रमण-सस्कृति का कलेवर आधारित है। ब्रह्मचर्य से पतित व्यक्ति किस प्रकार असख्य जीवो की हिंसा का भाजन बनता

है—इसका विस्तृत विवेचन जैन—वाङ्मय मे यत्र-तत्र अंकित है। उस विवरण से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि 'ब्रह्मचर्य' महाव्रत का पालन न करने वाला व्यक्ति, 'अहिंसा-महाव्रत' का पालन करने मे समर्थ नही हो सकता।

धर्म का दूसरा तत्व माना है 'संयम' को। ब्रह्मचर्य और संयम मे महान् अन्तर है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र सीमित है यद्यपि उसका परिणाम या फल असीम है। संयम का क्षेत्र तो असीम है और उसका परिणाम भी असीम है। संयम को शास्त्रकार चार भागो मे विभक्त करते है

चउव्विहे संजमे
मणसंजमे, कायसंजमे, उवगरण संजमे।

स्थानांग, ४-२

अर्थात्—संयम चार प्रकार का होता है—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और सामग्री का संयम। गहराई से चिन्तन करने पर, आत्म-संयम, इन्द्रिय-संयम, आचार-संयम, विचार-संयम, व्यवहार-संयम आदि-आदि सभी, उक्त शास्त्रविहित चारो संयमो के अन्तर्गत है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र कामेन्द्रिय के नियंत्रण तक सीमित भी है और केन्द्रित भी। मन का, वाणी का और शरीर का संयम ब्रह्मचर्य महाव्रत के पालन मे शक्ति का संचार करता है। दूसरे शब्दो मे संयम ब्रह्मचर्य—का सहायक है और उसको शक्ति प्रदान करने वाला है। दुष्कर कर्म के लिए शक्ति अपेक्षित रहती है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना वास्तव मे दुष्कर कर्म है। इसका पालन हर एक के वश की बात नही है। प्राचीन आचार्यो ने इसकी दुष्करता को भली भाँति समझा था। तभी तो शास्त्र मे लिखा है

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥

उत्तराध्ययन, १६-१६

अर्थात्—देवता, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर, सभी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले के सामने नतमस्तक इसलिए हो जाते है क्योकि वह ऐसे व्रत का पालन करता है जो अत्यन्त दुष्कर है।

अहिंसा, सयम और तप प्रधान धर्म की आराधना करने वाले को तो केवल देवता ही वन्दना करने वाले शास्त्रकार ने बताये हैं किन्तु ब्रह्मचर्य—महाव्रत का पालन करने वाले के चरणो मे तो देवताओ से लेकर किन्नर जाति के प्राणियो तक को मस्तक झुकाने का शास्त्र मे उल्लेख है। इस सत्य का मुख्य कारण है, ब्रह्मचर्य—महाव्रत के पालन की दुष्करता। तभी तो शास्त्रकार कहते हैं

उग्गं महव्वय धारेयव्व सुदुक्कर।

उत्तराध्ययन, १६-२८

अर्थात्—उस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अति कठिन कार्य है। ब्रह्मचर्य महाव्रत मे अहिंसा का तत्व तो अन्तर्लीन है ही, सयम उसका सहायक है और स्वय मे उत्तम तप का वह प्रतीक है।

उक्त सत्य को ध्यान मे रखकर, यदि हम यह कह दे कि ब्रह्मचर्य का पालन ही वास्तव मे धर्म है या धर्म का दूसरा नाम ही ब्रह्मचर्य का पालन है तो अत्युक्ति नही होगी। ब्रह्मचर्य केवल सभी तपो मे उत्तमतप ही नही है अपितु इसमे सभी तप अन्तर्लीन हो जाते हैं। केवल ब्रह्मचर्य के पालन करने से अन्य सभी व्रतो का पालन स्वत हो जाता है। इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए आगमकार कहते है

एक्कंमि बंभवेरे जमिय आराहियमि,
आराहियं वयमिणं सव्वं · तम्हा
निउएण बंभवेरं चरियव्वं।

प्रश्नव्याकरण, ४-१

अर्थात—जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतो की सम्यक् आराधना कर ली है—ऐसा समझना चाहिए। अत कुशल साधक को ब्रह्मचर्य—व्रत का पूर्ण रूप मे पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की उत्तमता का और प्रमाण देते हुए शास्त्रकार कहते हैं

तं बमं वेरुलिओ चैव जहा मणिणं,
जहा मउडो चैव भूसणाणं, वत्थाणं चैव
खोमजुयलं, अरविंदं चैव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं

चैव चदणाण, हिमवं चैव ओसहीण,
सीतोदा चैव तिन्नगाण, उदहीसु जहा
सयभूरमणो· एरावण इव कुजराण,
अभयदाण तित्थयरे चैव जहा मुणीण,
· · वणेसु जहा नन्दणवण पवरं ।

वही, ४-१

अर्थात--जैसे मणियो मे वेडूर्यमणि श्रेष्ठ है, भूपणो मे मुकुट उत्तम है, वस्त्रो मे क्षौमयुगल श्रेष्ठ है, पुष्पो मे अरविन्द नाम का पुष्प उत्कृष्ट है, चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन प्रकृष्ट है, औषधियो वाले पर्वतो मे हिमवान श्रेष्ठ है, समुद्रो मे स्वयभूरमण नाम का समुद्र वृहत्तम है, हाथियो मे ऐरावत सर्वोत्तम है, स्वर्गो मे ब्रह्म स्वग उत्तम है, दानो मे अभयदान प्रधान है, मुनियो मे तीर्थंकर सर्व श्रेष्ठ है और वनो मे जैसे नन्दनवन उत्कृष्टतम है, ठीक वैसे ही ससार मे आत्म-कल्याण निमित्त जितने भी व्रत है, उन सब मे ब्रह्मचर्य व्रत सर्वोत्तम है ।

जैन धर्म शास्त्रो मे सच्चा ऋषि, सच्चा मुनि, सच्चा सयमी और सच्चा भिक्ष उसी को स्वीकार किया गया है जो अविप्लुत ब्रह्मचर्य का पालन करता है

स इसी, स मुणी, स सजए, स एव भिक्खू,
जे सुद्ध चरइ बभचेर ।

वही, ४-१

भगवान् महावीर से पूर्व जैन धर्म का नाम चातुर्याम धर्म था। अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—ये चार ही याम या चार महाव्रत माने जाते थे । इसका अभिप्राय यह कदापि नही कि उस समय ब्रह्मचर्य को कोई महत्व ही नही दिया जाता था । उस समय वास्तव मे ब्रह्मचर्य का समावेश अपरिग्रह मे कर लिया जाता था । भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान से यह देख लिया था कि भविष्य मे आने वाली कामलोलुप जनता, ब्रह्मचर्य की उपेक्षा कर सकती है, इसलिए उसे काम—प्रवृत्ति से जो मोक्षमार्ग की महान् बाधक है, निवृत्ति के लिए, उन्होने चारो महाव्रतो मे ब्रह्मचर्य महाव्रत का पृथक् समावेश

करना उचित समझा। अत स्पष्ट रूप मे हम यह कह सकते है कि ब्रह्मचर्य महाव्रत का समावेश भगवान् महावीर की जैन धर्म को मौलिक देन है।

परिभाषा

ब्रह्मचर्य की व्युत्पत्ति है—ब्रह्मणि-आत्मनि, चरण-रमण, इति ब्रह्मचर्यम्। अर्थात्—अपनी आत्मा का, अपनी आत्मा मे ही रमण परत्र नही ब्रह्मचर्य कहलाता है। दूसरे शब्दो मे, आत्मा की स्थिति, परिस्थिति नही, ब्रह्मचय की दशा कहलाती है। इसी सत्य की पुष्टि करते हुए आगमकार कहते है

जीवो बंभा जीवम्मि चैव चरिया,
हविज्ज जा जदिणो,
विमुक्कपरदेह तित्तिस्स ॥

भगवती आराधना, ८७८

अर्थात्—आत्मा की आत्मा मे चर्या—रमण करना, ब्रह्मचर्य कहलाता है। सच्चा ब्रह्मचारी परदेह मे प्रवृत्ति और तृप्ति प्राप्त नही करता, वह स्वय की तृप्ति स्वय मे करता है।

कतिपय विद्वानो की मान्यता है कि ब्रह्म का अर्थ है—शुद्ध, बुद्ध और निरजन ईश्वर, उसमे चर्या-रमण या एक रूप हो जाना 'ब्रह्मचर्य' है।

अर्थात्—आत्मा की भूमिका से परमात्मा की भूमिका मे पहुँच जाना ब्रह्मचर्य है। तात्विक चिन्तन से यह स्पष्ट है कि दोनो प्रकार की ब्रह्मचर्य की परिभाषाओ का सार एक ही है। 'स्व' मे रमण करना या 'स्व' मे रमण के द्वारा परमात्मरूप बन जाना, वास्तव में एक ही बात है। उक्त दोनो प्रकार की परिभाषाओ मे ब्रह्मचर्य नाम के चतुर्थ महाव्रत के चरम लक्ष्य आत्मा के पूर्ण विकास की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा ही जीव अपनी उच्चतम आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच सकता है, इस तथ्य का स्पष्ट भान भी उक्त विश्लेषण से मिल जाता है। सभवत इसी कारण शास्त्रकार कहते है

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥

उत्त० १६-१७

अर्थात्—यह ब्रह्मचर्य-धर्म, नित्य, शाश्वत और जिन द्वारा उपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल मे अनेक जीव सिद्ध हुए है, हा रहे है और भविष्य मे भी होते रहेगे।

पालन

जीव की मिद्धत्व की स्थिति के लिए ब्रह्मचर्य के पालन का शास्त्रीय विधान, अन्य व्रतो की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के महत्व को और भी चार चान्द लगाने वाला है। हमारी धारणा के अनुसार, सम्भवत ब्रह्मचर्य की इसी उच्चता के कारण इसको सब तपो मे श्रेष्ठतम माना है और यह स्वीकार किया है कि जिस व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली है, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतो का पालन कर लिया है—ऐसा समझ लेना चाहिए।

नि सन्देह ब्रह्मचर्य का पालन, आत्मपद से परमात्मपद तक पहुँचाने वाला है किन्तु ऐसा कथनमात्र सरल है, इसे क्रियान्वित करना खाला जी का घर नही है। इसके पालन के लिए महान् आत्मिक और मानसिक शक्ति अपेक्षित है। अल्प सामर्थ्य और शक्ति वाले जीव ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकते। शास्त्रकार इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए कहते है :

नाल्पसत्वैर्न नि·शीलैर्न दीनैनाक्षनिर्जितै।
स्वप्नेऽपि चरितु शक्य ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥

ज्ञानार्णव, पृ० १३३

अर्थात्—अल्प शक्ति वाले, सदाचार रहित, दीन और इन्द्रियो के दास व्यक्ति, इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन सपने मे भी नही कर सकते। बडे-बडे मतिमान विद्वान् भी काम के आगे घुटने टेक देते है। इस पर शास्त्रकार का कथन है

जतुकुंभे जहा उवजोई,
सवास विद्रू विसीएज्जा।

सूत्रकृतांग, १-४-२६

अर्थात्—जिस प्रकार लाख से बना हुआ घडा आग की गरमी पाकर पिघल जाता है, ठीक वैसे ही मतिमान पुरुष भी स्त्री का सम्पर्क पाकर पिघल जाता है और खिन्न होता है।

सूत्रकृताग के अनुसार

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगम्मि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

सूत्रकृतांग, १-३-४-१६

अर्थात्—जिस प्रकार सब नदियो मे वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, वैसे ही इस लोक मे अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियो के प्रति होने वाले मोह या आकर्षण पर नियन्त्रण पालेना अति दुस्तर है।

इसी काठिन्य को ध्यान म रखते हुए सम्भवत जैनशास्त्रो मे जैन-मुनियो के लिए उनके सयम की स्थिरता के निमित्त अत्यन्त कठिन नियमो के पालन का विधान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर परिमडणं।
बभचेररओ भिक्खू, सिगारत्थं न धारए॥

उत्त०, १६-६

अर्थात्—जैन भिक्षु को जो ब्रह्मचर्य की साधना मे लीन है, किसी प्रकार का शरीर की शोभा वढाने-वाला शृ गार नही करना चाहिए।

सद्दे रूपे य गन्धे, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥

वही०, १६.१०

अर्थात्—ब्रह्मचारी मुनि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणो का सदा परित्याग कर दे।

और भी

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था॥
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे,
न बभयारिस्स खमो निवासो॥

वही० ३२-१६

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥

उत्त० १६-१७

अर्थात्—यह ब्रह्मचर्य-धर्म, निन्य, शाश्वत और जिन द्वारा उपदिष्ट है । इसके द्वारा पूर्वकाल मे अनेक जीव सिद्ध हुए है, हा रहे है और भविष्य मे भी होते रहेगे ।

पालन

जीव की सिद्धत्व की स्थिति के लिए ब्रह्मचर्य के पालन का शास्त्रीय विधान, अन्य व्रतो की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के महत्व को और भी चार चान्द लगाने वाला है । हमारी धारणा के अनुसार, सम्भवत ब्रह्मचर्य की इसी उच्चता के कारण इसको सब तपो मे श्रेष्ठतम माना है और यह स्वीकार किया है कि जिस व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली है, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतो का पालन कर लिया है—ऐसा समझ लेना चाहिए ।

नि सन्देह ब्रह्मचय का पालन, आत्मपद से परमात्मपद तक पहुँचाने वाला है किन्तु ऐसा कथनमात्र सरल है, इसे क्रियान्वित करना खाला जी का घर नही है । इसके पालन के लिए महान् आत्मिक और मानसिक शक्ति अपेक्षित है । अल्प सामर्थ्य और शक्ति वाले जीव ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकते । शास्त्रकार इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए कहते है :

नाल्पसत्वैर्न नि.शीलैर्न दीनैनाक्षनिर्जितै ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरै. ॥

ज्ञानार्णव, पृ० १३३

अर्थात्—अल्प शक्ति वाले, सदाचार रहित, दीन और इन्द्रियो के दास व्यक्ति, इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन सपने मे भी नही कर सकते । वडे-वडे मतिमान विद्वान् भी काम के आगे घुटने टेक देते है । इस पर शास्त्रकार का कथन है

जतुकुंभे जहा उवजोई,
सवास विदू विसीएज्जा ।

सूत्रकृतांग, १-४-२६

अर्थात्—जिस प्रकार लाख से बना हुआ घडा आग की गर्मी पाकर पिघल जाता है, ठीक वैसे ही मतिमान पुरुप भी स्त्री का सम्पर्क पाकर पिघल जाता है और खिन्न होता है।

सूत्रकृताग के अनुसार

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह समया।
एवं लोगम्मि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

सूत्रकृतांग, १-३-४-१६

अर्थात्—जिस प्रकार सब नदियो मे वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, वैसे ही इस लोक मे अविवेकी पुरुप के लिए स्त्रियो के प्रति होने वाले मोह या आकर्पण पर नियन्त्रण पालेना अति दुस्तर है।

इसी काठिन्य को ध्यान म रखते हुए सम्भवत जैनशास्त्रो मे जैन-मुनियो के लिए उनके सयम की स्थिरता के निमित्त अत्यन्त कठिन नियमो के पालन का विधान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर परिमडण।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थ न धारए॥

उत्त०, १६-६

अर्थात्—जैन भिक्षु को जो ब्रह्मचर्य की साधना मे लीन है, किसी प्रकार का शरीर की शोभा वढाने-वाला शृ गार नही करना चाहिए।

सद्दे रूवे य गन्धे, रसे फासे तहेव य।
पचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥

वही०, १६.१०

अर्थात्—ब्रह्मचारी मुनि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पॉच प्रकार के कामगुणो का सदा परित्याग कर दे।

और भी

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाण वसही पसत्था॥
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे,
न बभयारिस्स खमो निवासो॥

वही० ३२-१६

अर्थात्—जैसे बिल्ली की वस्ती के पास चूहो का निवास खतरनाक होता है, वैसे ही स्त्रियो के निवास-स्थान के बीच ब्रह्मचारी मुनि का निवास कदापि अच्छा नही होता।

स्त्रियो की वस्ती मे ब्रह्मचारी का निवास क्यो अनुचित है, इस पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार कहते है

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्च कुललओ भय।
एवं खु बभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥

दशवैकालिक सूत्रम्, ८-५४

अर्थात्—जिस प्रकार मुर्गी के बच्चे को बिल्ली द्वारा प्राणहरण का सदा भय बना रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी स्त्री सम्पर्क मे आकर अपने ब्रह्मचर्य के भग होने का भय बना रहता है। उस भय की निवृत्ति के लिए तथा धर्म ध्यान की स्थिरता के लिए -

अदसणं चेव अपत्थणं च,
अचितण चेव अकित्तण च।
इत्थीजणस्सऽऽरियज्झाण जुग्ग,
हिय सया बभवए रयाण॥

उत्तराध्ययन, ३२, १५

अर्थात्—ब्रह्मचय की साधना मे निरत जैन मुनि न तो स्त्रियो को राग की दृष्टि से देखे, न उनकी अभिलाषा करे, न उनका मन से चितन करे, और न ही उनकी प्रशसा ही करे। ऐसा करना उसकी धर्म साधना के लिए हितकर है।

अब्रह्मचर्य से क्षति

ब्रह्मचर्य के अभाव मे आध्यात्मिक साधना के लिए जितने भी अपेक्षित गुण है, उन सबसे साधक वचित हो जाता है :

जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्व भग्गं।

प्रश्नव्याकरण, २-४

अर्थात्—एक ब्रह्मचर्य व्रत के भग होने पर अन्य सब व्रत—शील, तप, विनय आदि नष्ट हो जाते हैं।

इसी सत्य की पुष्टि अन्य प्रकार से करते हुए शास्त्रकार कहते हैं

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय ।

दशवैकालिक, ६-१६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य का भग, अधर्म का मूल है और महादोषो का स्थान है। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा मे वीर्य को जिसकी रक्षा ब्रह्मचर्य द्वारा की जाती है (Energy) ऊर्जा या तेज के नामो से पुकारा जाता है। पातजलयोगसूत्र के अनुसार

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ ।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले व्यक्तियो को वीर्य-रक्षा की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि ही वास्तव मे मानव-जीवन की वास्तविक उपलब्धि है। वीर्य की स्थिरता ही जीवन है और वास्तविक जीवन का ही दूसरा नाम वीर्य की स्थिरता है। उसका नाश जीवन का नाश है। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसहिता' मे इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

रस इक्षोर्यथा दघ्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगत देहे शुक्रं सस्पर्शन तथा॥

अर्थात्—जिस प्रकार इक्षु-दण्ड के कण-कण मे रस, दही के कण-कण मे घी और तिलो के कण-कण मे तेल व्याप्त रहता है, ठीक इसी प्रकार, मानव शरीर के प्रत्येक परमाणु मे वीर्य व्याप्त और रमा हुआ रहता है।

इक्षु-दण्ड के कोल्हू मे पीडने पर और रस निकालने पर जैसे इच्छु-दण्ड या ईख नि सत्व छिलको के रूप मे अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकलने पर खट्टी छाछ बाकी रह जाती है और तिलो से तेल निकलने पर जैसे नीरस खल बाकी रह जाती है, ठीक इसी पकार शरीर से वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर नि सत्व, शक्तिहीन, तेजहीन और अल्पायु बन जाता है। वीर्य-क्षय के परिणाम-स्वरूप शरीर, क्षय और प्रमाद आदि भयकर रोगो का शिकार भी

अर्थात्—जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहो का निवास खतरनाक होता है, वैसे ही स्त्रियो के निवास-स्थान के बीच ब्रह्मचारी मुनि का निवास कदापि अच्छा नही होता।

स्त्रियो की वस्ती मे ब्रह्मचारी का निवास क्यो अनुचित है, इस पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार कहते है

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्च कुललओ भयं।
एव खु बभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भय॥
दशवैकालिक सूत्रम्, ८-५४

अर्थात्—जिस प्रकार मुर्गी के बच्चे को बिल्ली द्वारा प्राणहरण का सदा भय बना रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी स्त्री सम्पर्क मे आकर अपने ब्रह्मचर्य के भग होने का भय बना रहता है। उस भय की निवृत्ति के लिए तथा धर्म ध्यान् की स्थिरता के लिए -

अदसणं चेव अपत्थणं च,
अचितण चेव अकित्तण च।
इत्थीजणस्सऽरियज्झाण जुग्ग,
हिय सया बभवए रयाण॥
उत्तराध्ययन, ३२, १५

अर्थात्—ब्रह्मचर्य की साधना मे निरत जैन मुनि न तो स्त्रियो को राग की दृष्टि से देखे, न उनकी अभिलाषा करे, न उनका मन से चिंतन करे, और न ही उनकी प्रशसा ही करे। ऐसा करना उसकी धर्म साधना के लिए हितकर है।

अब्रह्मचर्य से क्षति

ब्रह्मचर्य के अभाव मे आध्यात्मिक साधना के लिए जितने भी अपेक्षित गुण है, उन सबसे साधक वचित हो जाता है :

जंमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व भग्गं।
प्रश्नव्याकरण, २-४

अर्थात्—एक ब्रह्मचर्य व्रत के भग होने पर अन्य सब व्रत—शील, तप, विनय आदि नष्ट हो जाते है।

इसी सत्य की पुष्टि अन्य प्रकार से करते हुए शास्त्रकार कहते है

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय।

दशवैकालिक, ६-१६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य का भग, अधर्म का मूल है और महादोषो का स्थान है। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा मे वीर्य को जिसकी रक्षा ब्रह्मचर्य द्वारा की जाती है (Energy) ऊर्जा या तेज के नामो से पुकारा जाता है। पातजलयोगसूत्र के अनुसार

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ ।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले व्यक्तियो को वीर्य-रक्षा की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि ही वास्तव मे मानव-जीवन की वास्तविक उपलब्धि है। वीर्य की स्थिरता ही जीवन है और वास्तविक जीवन का ही दूसरा नाम वीर्य की स्थिरता है। उसका नाश जीवन का नाश है। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसहिता' मे इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

रस इक्षोर्यथा दधिन सर्पिस्तैल तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं सस्पर्शनं तथा॥

अर्थात्—जिस प्रकार इक्षु-दण्ड के कण-कण मे रस, दही के कण-कण मे घी और तिलो के कण-कण मे तेल व्याप्त रहता है, ठीक इसी प्रकार, मानव शरीर के प्रत्येक परमाणु मे वीर्य व्याप्त और रमा हुआ रहता है।

इक्षु-दण्ड के कोल्हू मे पीडने पर और रस निकालने पर जैसे इक्षु-दण्ड या ईख नि सत्व छिलको के रूप मे अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकलने पर खट्टी छाछ बाकी रह जाती है और तिलो से तेल निकलने पर जैसे नीरस खल बाकी रह जाती है, ठीक इसी प्रकार शरीर से वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर नि सत्व, शक्तिहीन, तेजहीन और अल्पायु बन जाता है। वीर्य-क्षय के परिणाम-स्वरूप शरीर, क्षय और प्रमाद आदि भयकर रोगो का शिकार भी

हो जाता है। ब्रह्मचय के सद्भाव मे जहा जीवन वरदान था, वहाँ उसके अभाव मे जीवन अभिशाप वन जाता है। हमे वडे खेद से कहना पडता है कि वर्नमान पीढी के लोगो मे, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवको मे ब्रह्मचर्य की भावना लुप्त होती जा रही है। कामवासना को भडकाने वाले द्रव्यो (मद्य का सेवन, नशे की गोलियो का प्रयोग, गाजा, अफीम आदि का खाना पीना) के सेवन से उनके शरीर जर्जरित, असाध्य रोगाक्रान्त, अशान्त और क्लान्त हो रहे है। प्रमाद, अकालमृत्यु और आत्महत्याएँ काम के अतिमात्र सेवन के ही परिणाम है। आश्चय की यह बात है कि ब्रह्मचर्य के भग के दुष्परिणाम को प्रत्यक्ष देखते हुए भी किसी की आँखे नही खुल रही है। सब पागलपन के अन्धकार मे कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे है। आसन्नमृत्यु वाले व्यक्ति को जैसे दीपक का प्रकाश नही सुहाता, ठीक वैसे ही व्यसन-ग्रस्त आज के नवयुवको को ब्रह्मचर्य की शिक्षा रुचिकर प्रतीत नही होती। जब तक वर्तमान पीढी के लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को नही समझते, तब तक वे स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर की सम्पत्ति कदापि प्राप्त नही कर सकते। अस्वस्थ मन और अस्वस्थ शरीर जीवन के नही, मृत्यु के प्रतीक होते है। मानव को जीवन प्रिय है अथवा मृत्यु, यह उसके स्वय के सोचने की बात है। सन्तो का काम तो गुणो के सुपरिणाम और दुर्गुणो के दुष्परिणाम की ओर सकेत करना है, गुणो की ओर प्रवृत्ति और दुर्गुणो की निवृति की शिक्षा देना है।

अपरिग्रह दर्शन

भावार्थ :

अपरिग्रहवाद का विपरीतार्थक शब्द है 'परिग्रहवाद' जिसका अर्थ है आवश्यकता से अधिक सग्रह करना। मानव जीवन की सफलता या विफलता क्रमश 'अपरिग्रह' और 'परिग्रह' इन दोनो को भली-भाति समझने मे निहित है। एक मे जीवन का उत्थान है, कल्याण है और निर्माण है, तो दूसरे मे जीवन का पतन है, हानि है और विनाश है। जो विवेकशील है, वह जीवन के उत्थान की ओर प्रवृत्त होता है, और जो विवेकहीन है, वह जीवन के विनाश की ओर बढ़ता है। ससार के प्राय सभी महामानव मनुष्य को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की सदा सन्मति देते आये हैं। भगवान् महावीर ने लोक कल्याण की भावना से कहा था :

> लोभ-कलि-कसाय-महक्खधो
> चितासयनिचयविपुलसालो।
>
> प्रश्न०, १, ५

अर्थात्—परिग्रहरूप एक विशाल वृक्ष है जिसके स्कन्ध है : लोभ, क्लेश और कपाय। उस परिग्रह के वृक्ष की वड़ी ही सघन एव विशाल शाखाएँ है अनेक प्रकार की चिन्ताएँ।

सागर में गागर :

शास्त्रकार ने शब्दो की इस छोटी-सी गागर मे महान् सागर भर दिया है। जीवन की निखिल समस्याओ का, उलझनो का, सतापो का परितापो का, अन्तर्द्वन्दो का, आकस्मिक कर्मबन्धो का और जीवन के

निर्मम क्षणो के परिस्पन्दनो का उक्त सूत्ररूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत मे न खोजकर वहिर्जगत मे खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दु ख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने मे ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन मे स्वय उलझकर अपना जीवन तो भाररूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार मे, ममाज मे और राष्ट्र मे वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दु खद समस्याओ के मूल कारण को अन्तर्जगत मे ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वत हल हो सकती थी। मनुष्य के दु ख का मूलकारण उसके बाहर नही किन्तु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ मे आते ही आरम्भ हो जाया करती है। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वैरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करेगा तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने अत्यावश्यक आवश्यकताओ पर नियत्रण रखने पर अधिक बल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सम्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिए हितकर बताया है। आवश्यकताओ का क्षेत्र तो सीमित है किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल मे ढेला फेंकने से पहले एक लहर चक्र, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वत उत्पन्न होते ही जाते है, इसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओ का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कही अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि

इच्छा हु आगाससमा अणतिया।

उत्तराध्ययन, ९, ४८

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही उसी प्रकार इच्छाओ का भी कही अन्त नही है।

कसिण पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

उत्तराध्ययन, ८, १६

अर्थात्—धन धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौप दिया जाये, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नही हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि सभव नही है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठिय॥

वही, ८-१७

अर्थात्—ज्यो-ज्यो मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति करोडो से भी सन्तुष्ट नही हो पाया।

लाभ और लोभ

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। जीवन का सुख अर्जित धन मे नही, वह तो त्याग मे है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नही सकता। इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता। वर्तमान् युग मे हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है कि कुछ लोगो के पास इतना धन सग्रह है, उन्हे चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करे, कहाँ लगावे, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो वहुत वडी सख्या मे है जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिए पैसा कहाँ से लाये? धनाढ्य परिवारो के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोगग्रस्त रहते है, और अकिंचन परिवारो के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव मे ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड देते है। नि सन्देह शोषक और शोषित दु खी दोनो है किन्तु दोनो

निर्मम क्षणो के परिस्पन्दनो का उक्त सूत्ररूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत मे न खोजकर वहिर्जगत मे खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दु ख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने मे ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन मे स्वय उलझकर अपना जीवन तो भाररूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दु खद समस्याओ के मूल कारण को अन्तर्जगत मे ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वत हल हो सकती थी। मनुष्य के दु ख का मूलकारण उसके बाहर नही किन्तु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ मे आते ही आरम्भ हो जाया करती है। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वेरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करेगा तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने अत्यावश्यक आवश्यकताओ पर नियत्रण रखने पर अधिक बल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सन्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिए हितकर बताया है। आवश्यकताओ का क्षेत्र तो सीमित है किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल मे ढेला फेंकने से पहले एक लहर चक्र, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वत उत्पन्न होते ही जाते है, इसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओ का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कही अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि

इच्छा हु आगाससमा अणतिया।

उत्तराध्ययन, ६, ४८

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश का कहीं अन्त नहीं उसी प्रकार इच्छाओं का भी कहीं अन्त नहीं है।

कसिण पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥
उत्तराध्ययन, 8. 16

अर्थात्—धन धान्य से परिपूर्ण यह समस्त विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाये तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि सम्भव नहीं है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं॥
वही, 8-17

अर्थात्—ज्यों-ज्यों मनुष्य को लाभ होता जाता है त्यों-त्यों उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति करोड़ों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया।

लाभ और लोभ -

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। जीवन का सुख अर्जित धन में नहीं वह तो त्याग में है. त्याग लोभी व्यक्ति कर नहीं सकता। इसका परिणाम होता है सामाजिक विपन्नता। वर्तमान् युग में हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे हैं कि कुछ लोगों के पास इतना धन संग्रह है उन्हें चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करें कहाँ लगावें. इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो बहुत बड़ी संख्या में हैं जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिए पैसा कहाँ से लाये? धनाढ्य परिवारों के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोगग्रस्त रहते हैं और अकिंचन परिवारों के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव से ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड़ देते हैं। निःसन्देह शोषक और शोषित दुखी दोनों हैं किन्तु दोनों

निर्मम क्षणो के परिस्पन्दनो का उक्त सूत्ररूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत मे न खोजकर बहिर्जगत मे खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दु ख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने मे ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन मे स्वय उलझकर अपना जीवन तो भाररूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दु खद समस्याओ के मूल कारण को अन्तर्जगत मे ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वत हल हो सकती थी। मनुष्य के दु ख का मूलकारण उसके बाहर नही किन्तु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ मे आते ही आरम्भ हो जाया करती हैं। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वैरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करेगा तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने अत्यावश्यक आवश्यकताओ पर नियत्रण रखने पर अधिक बल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सन्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिए हितकर बताया है। आवश्यकताओ का क्षेत्र तो सीमित है किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल मे ढेला फेंकने से पहले एक लहर चक्र, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वत उत्पन्न होते ही जाते है, इसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओ का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कही अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

उत्तराध्ययन, ६, ४८

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही उसी प्रकार इच्छाओ का भी कही अन्त नही है।

कसिण पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

उत्तराध्ययन, ८, १६

अर्थात्—धन धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौप दिया जाये, तव भी वह उससे सन्तुष्ट नही हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि सभव नही है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठिय॥

वही, ८-१७

अर्थात्—ज्यो-ज्यो मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति करोडो से भी सन्तुष्ट नही हो पाया।

लाभ और लोभ

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। जीवन का सुख अर्जित धन मे नही, वह तो त्याग मे है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नही सकता। इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता। वर्तमान् युग मे हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है कि कुछ लोगो के पास इतना धन सग्रह है, उन्हे चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करे, कहाँ लगावे, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो बहुत बडी सख्या मे है जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिए पैसा कहाँ से लाये ? धनाढ्य परिवारो के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोगग्रस्त रहते है, और अकिंचन परिवारो के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव मे ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड देते है। नि सन्देह शोषक और शोषित दुखी दोनो है किन्तु दोनो

निर्मम क्षणो के परिस्पन्दनो का उक्त सूत्ररूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत मे न खोजकर वहिर्जगत मे खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दुःख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने मे ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन मे स्वय उलझकर अपना जीवन तो भाररूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दुःखद समस्याओ के मूल कारण को अन्तर्जगत मे ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वत हल हो सकती थी। मनुष्य के दुःख का मूलकारण उसके बाहर नही किन्तु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ मे आते ही आरम्भ हो जाया करती है। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वैरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करेगा तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने अत्यावश्यक आवश्यकताओ पर नियत्रण रखने पर अधिक बल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सन्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिए हितकर बताया है। आवश्यकताओ का क्षेत्र तो सीमित है किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल मे ढेला फेकने से पहले एक लहर चक्र, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वत उत्पन्न होते ही जाते है, इसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओ का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कही अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

उत्तराध्ययन, ६, ४८

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही उसी प्रकार इच्छाओ का भी कही अन्त नही है ।

कसिण पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।।
उत्तराध्ययन, ८, १६

अर्थात्—धन धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौप दिया जाये, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नही हो सकता । आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि सभव नही है ।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठिय ।।
वही, ८-१७

अर्थात्—ज्यो-ज्यो मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढता ही जाता है । इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है । दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति करोडो से भी सन्तुष्ट नही हो पाया ।

लाभ और लोभ

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है । जीवन का सुख अर्जित धन मे नही, वह तो त्याग मे है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नही सकता । इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता । वर्तमान् युग मे हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है कि कुछ लोगो के पास इतना धन सग्रह है, उन्हे चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करे, कहाँ लगावे, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो वहुत बडी सख्या मे है जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिए पैसा कहाँ से लाये ? धनाढ्य परिवारो के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोगग्रस्त रहते है, और अकिंचन परिवारो के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव मे ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड देते है । नि सन्देह शोषक और शोषित दु खी दोनो है किन्तु दोनो

के दु खो के मूल कारण सग्रह या परिग्रह के पोषक, शोषक ही हैं। शोषको ने अपनी सग्रह की प्रवृत्ति के कारण ही स्वय के और दूसरो के जीवन को भार वना दिया है। यदि कोई एक व्यक्ति देश का सारा धन, अन्न-वस्त्र अपने ही खजाने और भण्डार मे भर लेगा तो जन सामान्य के लिये उसका वितरण वन्द हो जाने से देशवासियो का जीवन अर्थ और अन्न-वस्त्र के सकट से ग्रस्त होना स्वाभाविक है।

वर्नार्डशा योरोप के प्रख्यात नाटककार थे। वडे ही दुवले-पतले शरीर के थे। चर्चिल वर्तानिया के प्रधानमत्री थे जो शरीर से मोटे ताजे थे। ये दोनो महापुरुष वर्तमान युग मे हुए हैं। एक बार किसी सभा मे दोनो की भेट हो गई। दुवले-पतले, सूखे शरीर वाले वर्नार्डशा को देखकर चर्चिल साहव ने कहा "आपको देखने से तो ऐसे लग रहा है जैसे आपको रोटी नसीब न होती हो और आप भूखे रहते हो। झट से वर्नार्डशा ने उत्तर दिया, "आपको देखने से लोग तुरन्त समझ जाते है कि मैं दुवला पतला क्यो हूँ और मुझे भूखा क्यो रहना पडता है ?

एक उदाहरण

वर्नार्डशा के व्यग्य ने तीर की तरह चर्चिल के चित्त को चित्त कर दिया। चर्चिल साहव वल खाकर रह गये, कुछ भी उत्तर न वन पडा। शा की वात वास्तव मे सत्य थी। एक का मुटापा दूसरे की दुर्बलता का कारण होता है। एक की सम्पन्नता दूसरे की विपन्नता को जन्म देती है। एक की सग्रह की प्रवृत्ति, अनेक के सकटो का बीजारोपण करती है और एक की स्वार्थ प्रवृत्ति सहस्रो परिवारो को नारकीय यातनाओ मे धकेल देती है। हेमन्त ऋतु मे हमने अनेक बार देखा है बडे-बडे नगरो मे, बडे-बडे धनी तो बहुमूल्य ऊनी कपडो के बोझ से लदे फिरते है और बेचारे अकिंचन, नगे बदन कापते हुए शरीर का भार ढोते फिरते है। बडे-बडे बगलो मे अमीर तो रेशम की रजाइयो मे भी सरदी का अनुभव करते है और बेचारे गरीब सडको के किनारे टाट के टुकडो मे चिथडो मे लिपटे हुए काप-काप कर रात काटते है। मानव की मानव के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा से यदि शोषित वर्ग मे विद्वेष की और घृणा की भावना उत्पन्न न होगी तो फिर और किससे होगी। इस गर्हणीय उपेक्षा की नीव मे परिग्रह की भावना

गडी हुई है। आज के युग मे जो सम्पन्न देश है, जिनके पास अपार अन्न-धन की राशि है, वे भी दूसरे देशो पर आक्रमण इसलिए करते है कि उन्हे लूटे, वहाँ अधिक कमाने के लिए अपनी मण्डियाँ स्थापित करे। उनका यह लोभ जब भयानक रूप धारण कर लेता है तो युद्ध मे परिणत हो जाता है। जन-सहार होता है, अत्याचार होता है और लूट का प्रसार होता है,।

राजपूत और वर्तमान युग

राजपूत युग मे राजाओ के परिग्रह का केन्द्र कोई सुन्दरी कुमारी होती थी

जिहि घर देखी सुन्दर बिटिया।
तिहि घर जाई धरे हथियार॥

अर्थात्—जिस घराने मे राजा, राणा या शक्तिशाली ठाकुर को यह पता लग जाता था कि अमुक अमीर की कन्या अति सुन्दरी है, तो वह अपने दलबल के साथ उस पर आक्रमण कर देता था। सबका लक्ष्य मात्र सुन्दरी को हथियाना होता था, जनता को लूट-पाट की शिकार बनाना नही, परन्तु आजकल के आक्रमणो का लक्ष्य लूट है। मुगल काल मे तो यह लूट अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। सब कुछ पास मे होते हुए भी दूसरो पर अत्याचार करके उनका माल लूटना और उनकी हत्या करना—ये सब परिग्रह की भावना के परिणाम है। किसी भी लुटेरे ने परिग्रह की भावना से उत्पन्न होने वाले कषायो—क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर असख्य प्राणियो को क्लेश, दु ख और नरक के गर्त मे धकेल दिया किन्तु इससे क्या वह स्वय की तृष्णा की पूर्ति कर सका? इस प्रश्न का उत्तर निषेध मे ही मिलता है। महमूद गजनवी और नादिरशाह जैसे लुटेरो ने भारत पर आक्रमण किये, मात्र इसको लूटने के लिए। नादिरशाह ने दिल्ली की सम्पत्ति हथियाने के लिए एक लाख तीस हजार इन्सानों को मौत के घाट उतार दिया था। वह अपार धन यहाँ से लूट कर ले गया। ऐसा ही महमूद गजनवी ने भी किया था। मृत्यु के समय क्या कुछ भी उनके साथ जा सका? सब यही छोडकर चले गये। केवल मात्र अपयश के काले अक्षरो से अपने इतिहास को और नाम को कलकित कर गये।

आज के युग मे तो परिग्रह की दशा वडी ही विचित्र है। हिंसक व्यक्ति को यदि हिंसा के दुष्परिणाम भली प्रकार समझा दिये जाये, तो वह भी अपने दुष्कर्म पर लज्जा का अनुभव करने लगता है, असत्य वोलने वाले को यदि कोई झूठा कही का कहदे तो वह लडने को तैयार हो जाता है। इससे पता चलता है कि वह असत्य को अन्तरात्मा से वुरा समझता है, चोर-चोरी छिपकर करता है जिससे स्पष्ट है कि वह उसे खोटा काम या अपराध समझता है, व्यभिचार मे प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति छिपकर और डरकर ही व्यभिचार करता है परन्तु परिग्रह या सग्रह करने वाला मनुष्य नि शक होकर सग्रह करता है और अनेक प्रकार के पापकर्मो के द्वारा दिवानिश अर्थ सग्रह मे लीन रहता है, उस अर्थ के वल पर समाज मे अग्रगण्य प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त करता है, जवकि भगवान् महावीर का उपदेश है

नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि,
सव्वजीवाण सव्वलोए।

प्रश्न, १, ५

अर्थात्—ससार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए कोई जाल एव बन्धन नही है।

आरंभपूर्वको परिग्रह।

सूत्रकृताग, १, २, २

अर्थात्—परिग्रह या धन सग्रह बिना हिंसा के कदापि सभव नही है।

अन्याय के द्वारा, पाप के द्वारा और शोपण के द्वारा सचित धन से धनी बने हुए व्यक्ति की समाज मे प्रतिष्ठा भी होती है, मान पत्र भी दिये जाते है, उच्चासन भी अर्पित किया जाता है और यशोगान भी होता है। इसी वर्ग के कुछ लोग ऐसे भी है जो अधिकाधिक सग्रह करके उसमे से थोडा-सा दान देकर अपने परिग्रह पर पर्दा डालने का प्रयत्न करते है। वे अल्प समय के लिए भले ही भोले लोगो की आँखो मे धूल डाल दे किन्तु अपनी आत्मा पर लगे परिग्रह के कलक को अल्प-दान जल से धोने मे कदापि समर्थ नही हो सकते।

अतएव ससार यदि सुख की नीद सोना चाहता है, युद्धो की विभीषिका से वचना चाहता है, सर्वनाश से अपनी रक्षा करना चाहता है, जीवन की जटिल समस्याओ को सुलझाना चाहता है, विपमता के दुष्परिणामो से त्राण पाना चाहता है और मानव होकर मानवता को पहचानना चाहता है तो उसे भगवान् महावीर के अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त को अपनाना होगा, जीवन मे उतारना होगा और उस पर निरन्तर अमल करना होगा। भगवान् महावीर के निम्नलिखित उपदेश को कभी नही भूलना चाहिए

सतोसपाहन्नरए स पुज्जो।

दशवैकालिक, ६, ३, ५

अर्थात्—जो सन्तोष के पथ पर चलता है, वही व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा के योग्य है 'परिग्रहवादी' धनी नही।

७

संयम-साधना

सयम का महत्त्व

संजमेणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?
सजमेण अणण्हयण जणयइ ।।

उत्तराध्ययन सूत्रम्, २९, २६

अर्थात्—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा, हे भगवन् ! सयम धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? "इसके उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा", सयम धारण करने से "अनहस्क"—न विद्यते अह—पाप यस्मिन् तत् "अनहस्क" अर्थात् जिससे पापकी निवृत्ति हो या दूसरे शब्दो मे—आस्रव का निरोध हो वही सयम है ।

सयम धारण करने से जीव मे पापो का आगमन रुक जाता है या जीव पापकर्मों मे प्रवृत्त नही होता । पाप कर्मो मे प्रवृत्ति ही जीव के बन्ध का कारण है । इस पाप कर्मरूपी प्रवृत्ति के कारण की निवृत्ति से जीव बन्ध रूपी कार्य से छुटकारा पाकर परमपद की ओर अग्रसर हो सकता है । अन्य विद्वानो ने भी सयम की व्युत्पत्ति या परिभाषाएँ की है वे सभी उक्त अर्थ की ही द्योतक है ।

सयम्यते नियमत आत्मा पापव्यापारसंभारादनेनेति सयम ।

अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग ७, पृ० ८७

अर्थात्—जिसके द्वारा आत्मा को पाप कर्म के आचरण से रोका जाये, वही सयम कहलाता है ।

या फिर

शोभना यमाः प्राणातिपातऽनृतभाषणादत्ताऽदानाऽब्रह्मपरिग्रह विरमणलक्षणा-अस्मिन्निति संयम । **वही०**

इस परिभापा मे शास्त्रकार ने सयम के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाते हुए कहा है कि जीव का द्रव्य या भावमयी किसी भी प्रकार की हिंसा मे प्रवृत्त न होना, असत्य भापण का त्याग करना, चौर्य कर्म से दूर रहना, ब्रह्मचर्य से कभी च्युत न होना, और परिग्रह का त्याग करना—सयम कहलाता है।

इस परिभापा से हम इस निर्णय पर भी पहुँचते है कि पाचो महाव्रतो का पालन सयम है और उनका त्याग उपेक्षा या अनाचरण असयम है। यह बात सक्षेप मे तो स्पष्ट ही है कि पाँच महाव्रतो के पालन से पापो का जीव मे निरोध हो जाता है और अनाचरण से पापो का जीव मे आस्रव होता है परन्तु समान्य बुद्धि के पाठको के लिये इस विपय का विश्लेषण आवश्यक है। विपय का स्पष्टीकरण विश्लेषण से ही सभव हो सकेगा।

हिंसा-सयम :

ऊपर की गई सयम की परिभापा से यह स्पष्ट हो गया है कि जीवन के किसी भी ऐसे कार्य मे प्रवृत्त होना जिसके आचरण से जीव को पाप लगता हो असयम है और ऐसा कार्य करना जिससे पाप का निरोध होता है वह सयम है। सक्षेप मे यदि हम यह कह दें

पापात्यन्तनिरोधः संयमः।

अर्थात्—"पाप का पूर्णरूपेण निरोध ही सयम है", तो अधिक उपयुक्त रहेगा। हिंसा तो प्रत्यक्ष रूप मे पाप का कारण है ही। जो जीव हिंसा मे प्रवृत्त है वह ही घोर पापाचरण करने वाला है। जहाँ हिंसा रहेगी वहाँ सयम का अस्तित्व असम्भव है और यहाँ सयम है वहाँ हिंसा का निश्चय ही अभाव होगा। सयम पालन करने वाले साधक के लिये भगवान् ने प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा की भावना रखने का उपदेश दिया है

तत्थिम पढम ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

दशवैकालिक० ६-९

अर्थात्—भगवान् महावीर ने अठारह धर्म स्थानो मे सब से **प्रथम** (?) **अहिंसा** बताया है। सब जीवो पर सयम रखना अर्थात्—

७

संयम-साधना

सयम का महत्त्व ·

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
सजमेण अणण्हयण जणयइ ।।

उत्तराध्ययन सूत्रम्, २९, २६

अर्थात्—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा, हे भगवन् ! सयम धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? "इसके उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा", सयम धारण करने से "अनहस्क"—न विद्यते अह —पाप यस्मिन् तत् "अनहस्क" अर्थात् जिससे पापकी निवृत्ति हो या दूसरे शब्दो मे—आस्रव का निरोध हो वही सयम है ।

सयम धारण करने से जीव मे पापो का आगमन रुक जाता है या जीव पापकर्मों मे प्रवृत्त नही होता । पाप कर्मो मे प्रवृत्ति ही जीव के बन्ध का कारण है । इस पाप कर्मरूपी प्रवृत्ति के कारण की निवृत्ति से जीव बन्ध रूपी कार्य से छुटकारा पाकर परमपद की ओर अग्रसर हो सकता है । अन्य विद्वानो ने भी सयम की व्युत्पत्ति या परिभाषाएँ की है वे सभी उक्त अर्थ की ही द्योतक है ।

सयम्यते नियमत आत्मा पापव्यापारसभारादनेनेति सयम ।

अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग ७, पृ० ८७

अर्थात्—जिसके द्वारा आत्मा को पाप कर्म के आचरण से रोका जाये, वही सयम कहलाता है ।

या फिर

शोभना यमाः प्राणातिपातऽनृतभाषणादत्ताऽदानाऽब्रह्मपरिग्रह विरमणलक्षणा-अस्मिन्निति संयम । वही०

इस परिभाषा मे शास्त्रकार ने सयम के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाते हुए कहा है कि जीव का द्रव्य या भावमयी किसी भी प्रकार की हिसा मे प्रवृत्त न होना, असत्य भाषण का त्याग करना, चौर्य कर्म से दूर रहना, ब्रह्मचर्य से कभी च्युत न होना, और परिग्रह का त्याग करना—सयम कहलाता है।

इस परिभाषा से हम इस निर्णय पर भी पहुँचते है कि पाचो महाव्रतो का पालन सयम है और उनका त्याग उपेक्षा या अनाचरण असयम है। यह बात सक्षेप मे तो स्पष्ट ही है कि पाँच महाव्रतो के पालन से पापो का जीव मे निरोध हो जाता है और अनाचरण से पापो का जीव मे आस्रव होता है परन्तु समान्य बुद्धि के पाठको के लिये इस विषय का विश्लेषण आवश्यक है। विषय का स्पष्टीकरण विश्लेषण से ही सभव हो सकेगा।

हिसा-सयम :

ऊपर की गई सयम की परिभाषा से यह स्पष्ट हो गया है कि जीवन के किसी भी ऐसे कार्य मे प्रवृत्त होना जिसके आचरण से जीव को पाप लगता हो असयम है और ऐसा कार्य करना जिससे पाप का निरोध होता है वह सयम है। सक्षेप मे यदि हम यह कह दें

पापात्यन्तनिरोधः सयम.।

अर्थात्—"पाप का पूर्णरूपेण निरोध ही सयम है", तो अधिक उपयुक्त रहेगा। हिसा तो प्रत्यक्ष रूप मे पाप का कारण है ही। जो जीव हिंसा मे प्रवृत्त है वह ही घोर पापाचरण करने वाला है। जहाँ हिसा रहेगी वहाँ सयम का अस्तित्व असम्भव है और यहाँ सयम है वहाँ हिसा का निश्चय ही अभाव होगा। सयम पालन करने वाले साधक के लिये भगवान् ने प्राणी मात्र के प्रति अहिसा की भावना रखने का उपदेश दिया है

तत्थिम पढम ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

दशवैकालिक० ६-६

अर्थात्—भगवान् महावीर ने अठारह धर्म स्थानो मे सब से पहला स्थान अहिसा वताया है। सव जीवो पर सयम रखना अर्थात्—

मन से, वाणी से और कर्म से उनकी हिसा न करना, सव सुखो को देने वाला है।

जैन धर्म हिसा जन्य पाप के विश्लेषण मे इतना गहरा उतरा है कि वह मन, वचन और काया तीनो से किसी के मन को दुखाने मे पाप समझता है। तभी भगवान् महावीर कहते हैं

जग निस्सिएहि भूएहि, तसनामेहि थावरेहि च।
नो तेसिमारभे दड, मणसा वयसा कायसा चेव॥

उत्तराध्ययन, ८, १०

अर्थात्—सच्चे अहिसक को चाहिये कि वह ससार मे रहने वाले त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवो पर मन, वचन और शरीर से किसी तरह के दण्ड का भी प्रयोग न करे।

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष, वीज, वनस्पति काय-सभी मे अति सूक्ष्म प्रकार के जीव निवास करते है। इस सत्य की अभिव्यक्ति निम्नलिखित गाथा मे की है

पुढवी-जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहा गणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥

महावीर वाणी, पृ० १६

सर्वभूतेषु सयम अहिसा।

जैन सिद्धान्त दीपिका, ६, १

उक्त सभी प्रकार के जीवो के प्रति सयम रखना, अर्थात् उन्हे न मारना ही अहिसा सयम है। सब जीवो के प्रति सयम रखना अहिसा है या अहिसा ही वास्तव मे परम सयम है, यह एक ही वात है। इस सत्य की पुष्टि दशवैकालिक सूत्र और महाभारत मे की गई है

अहिसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु सजमो

६, ६

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिसा परोदम।
अहिंसा परमं दानमहिसा परम तप॥

महाभारत, अनु० ११६, ३८

अर्थात्—अहिसा को भगवान् ने जीवो के लिये कल्याणकारी बताया है। सभी जीवो के प्रति सयम रखना ही अहिसा का सच्चा स्वरूप है।

अहिसा परम उत्कृष्ट धर्म है और अहिसा ही परम सयम है। अहिसा परमदान है और अहिसा परम तप है।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि हिसा से पाप का आस्रव होता है, इस लिये सब प्रकार की हिसा का त्याग सयम है।

असत्य संयम :

असत्य भाषण को शास्त्रकारो ने पाप ही नही, महापाप बताया है

नानृतात् पातकं परम्

महाभारत, शान्ति पर्व, १६२, २४

महापाप से बचने के लिये असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण अत्यावश्यक है। जो जीव सत्य का आश्रय लेता है उसके लिये जैनागम का कथन है

सच्चम्मि धिई कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी
सव्वं पाव कम्म झोसइ।

आचारांग, ३,२

अर्थात्—सत्य मे दृढ रहो, सत्य मे व्यवस्थित बुद्धिमान् व्यक्ति सभी प्रकार के पापकर्म का क्षय कर देता है।

सत्य की महिमा नि सन्देह इतनी महान् बताई है किन्तु यदि जीवन मे कोई ऐसा अवसर आ जाये जहाँ सत्य वोलने के कारण सयम की हानि होती हो तो उसके लिये शास्त्र का निर्देश है कि ऐसा सत्य जिसके वोलने से सयम को धक्का लगता हो, कभी नही बोलना चाहिये,

सच्चं विय संजमस्स उवरोहकारण किंचि ण वत्तव्वं

प्रश्न व्याकरण, सं० २

अर्थात्—सत्य भी यदि सयम को हानि पहुँचाने वाला है तो वह किंचिन्मात्र भी नही वोलना चाहिये। इसी सत्य की पुष्टि दूसरे आगम ने की है

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो।
दशवैकालिक, ७,११

अर्थात्—जिससे जीव पाप का भागी वनता हो ऐसी सत्य की भाषा वोलना भी अनुचित है।

उक्त प्रसग के आन्तरिक रहस्य को व्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते है

ओए तहीय फरुस वियाणे।

सूत्रकृतांग, १४,२१

अर्थात्—सत्य वचन यदि कठोरता की भावना से ओत प्रोत हो, तो कदापि नही वोलना चाहिये।

सत्य वचन की कठोरता को सोदाहरण समझाते हुए आगम मे लिखा है

तहेव काणं काणेति, पडगं पडगेत्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति तेण चोरित्ति नो वये॥
दशवै० ७,१२

अर्थात्—काणे को काणा कहना, नपुसक को नपुसक कह कर बुलाना, रोगी को रोगी कह कर सबोधन करना और चोर को चोर कह कर पुकारना यद्यपि सत्य भाषण है किन्तु सुनने वाले को इससे उद्वेजकता उत्पन्न होगी, दु ख होगा इस कारण वह भी एक प्रकार का पर-मानसिक दु ख होने से पाप है, अत हेय है। कटु सत्य पर सयम रखना भी अपेक्षित है।

स्तेयसंयम :

स्तेय का अर्थ है चौर्य कर्म।

अदत्तादानं स्तेयम्॥
जैन सि० दीपिका, ७,८

अर्थात्— बिना दी हुई वस्तु को विना आज्ञा के ग्रहण कर लेना स्तेय-चोरी कहलाता है। यह स्तेय भी एक महान् पाप है। स्तेय कर्म से केवल एक प्राणी का जीव दु ख नही पाता किन्तु अनेक प्राणी दु ख के शिकार बनते है :

एकस्यैकक्षण दु.खमार्यमाणस्य जायते।
सुपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीव हृते धने ॥

योगशास्त्र, २,६८

अर्थात्—मारे जाने वाले जीव को तो अकेले को ही एक क्षण के लिये दु ख होता है किन्तु जिसका धन अपहरण कर लिया जाता है उसे, उसके पुत्र और पौत्रो को तो जीवन भर दु ख उठाना पडता है। इसलिये किसी के धन को चुराना तो किसी की हत्या से भी बढकर होता है। यही कारण है कि चोरी को भी एक भयानक पाप माना गया है और चोरी करने वाले के लिये बडे ही कठोर नारकीय दण्ड का विधान है

विशन्ति नरकं घोरं, दु खज्वालाकरालितम्।
अमुत्र नियत मूढा· प्राणिनश्चौर्यचर्विताः ॥

ज्ञानार्णव पृ०, १३९

अर्थात्—चोरी करने वाले मूढ पुरुष परभव मे दु खरूपी ज्वाल से भरे भयानक घोर नरक मे निश्चित रूप से निवास करते है।

चौर्यकर्म का तो दूसरा नाम ही शास्त्र मे असयम रखा है

चोरिक्क परहड़ं अदत्त कूरकडं असंजमो।

प्रश्न व्यापकरण, ३

अब्रह्मचर्य संयम ·

अधर्म को पाप का मूल माना गया है और अब्रह्मचर्य को सभी प्रकार के अधर्मो का मूल माना गया है

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।

दशवैकालिक, ६,१७

सभव है यही कारण है कि जैनागमो मे जो जीव पाप की निन्दा मे प्रवृत्त है उसे सयमी और जो पाप की उपेक्षा करता है, उसे असयमी कहा गया है

गरहा सजमें, नो अगरहा संयमे ।

भगवती सूत्र, १,६

आत्मा की तो पाप से रक्षा करनी ही चाहिये और वह तभी हो सकती है, जब जीव मे सयम की आराधना हो

अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो ।

दशवैकालिक, २,१६

बौद्ध ग्रन्थ थेर गाथा मे तो

यो कामे कामयति, दुक्ख सो कामयति ।

थेरगाथा, १,६३

अर्थात्—जो अब्रह्मचर्य या असयम की कामना करता है, वह मानो दु ख की ही कामना करता है, ऐसा कथन है ।

जैनशास्त्र मे तो असयम को साक्षात शस्त्र ही कहा है । अर्थात्—जैसे शस्त्र हत्याजन्य पाप का उत्पादक और पाप को बान्धने वाला होता है, ठीक वैसे ही असयम है—सयम से पतित होना है

भावे य असजमो सत्थं ।

आचाराग निर्युक्ति, ६६

सयम से पतित व्यक्ति कदापि ससार सागर को तैर कर परमपद की प्राप्ति नही कर सकता । नि श्रेयस की प्राप्ति तो सयम की साधना से ही सभव है । आगम ने कितने सुन्दर रूपक द्वारा इस भाव की अभिव्यक्ति की है

जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्सगामिणी ।
जा निरस्साविणो नावा, सा उ पारस्सगामिणी ॥

उत्तराध्ययन, २३,७१

अर्थात्—ऐसी नौका जिसमे अनेक छिद्र हो, व्यक्ति को ससार सागर के पार नही पहुँचा सकती । छिद्र-रहित नौका ही यात्री को सागर पार पहुँचा सकती है । इसी प्रकार जीव की शरीररूपी नौका

मे असयम के अनेक छिद्र है। उन छिद्रो को रोक देना सयम कहलाता है। जो आत्मा सयमी है वही ससार सागर को पार कर सकती है।

इस बात का पहले सकेत किया जा चुका है कि असयम का परिणाम पाप और पाप का परिणाम भयानक दु ख होता है। जो जीव अब्रह्मचर्य पर सयम नही रखते उनको अनेक प्रकार के नारकीय दु ख सहने पडते है :

एसो सो अबभस्स फलविवागो
इह लोइओ पारलोइओ य अप्पसुहो
बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो
दारुणो कक्कसो असाओ ··· ···

प्रश्नव्याकरण, आ० द्वा०, ५, १६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य से पतित होने वाले या अब्रह्मचर्य पर सयम न रखने वाले व्यक्ति को इस लोक मे और परलोक मे अनेक प्रकार के दु ख, महान् भयानक भय, अत्यन्त दारुण और कठोर नारकीय यातनाओ को भोगना पडता है। इसलिये इन दु खो से छुटकारा पाने के लिये अब्रह्मचर्य जन्य पाप से मुक्ति बिना "अब्रह्मचर्य सयम" के सभव नही है।

परिग्रह सयम

परिग्रह का अर्थ है किसी वस्तु पर मूर्च्छा-आसक्ति रखना। शास्त्र मे परिग्रह के लिये अन्य भी अनेक नामो का उल्लेख है

महिच्छा, पडिबन्धो, लोहप्पा, · ·· भारो··· · कलिकरडो · अणत्थो अगुत्ती · तण्हा · · आसत्ती, असतोषो।

प्रश्नव्याकरण, ५

जैसे महेच्छा, प्रतिवन्ध, लोभात्मा, भार, कलिकरड, अनर्थ अगुप्ति, तृष्णा, आसक्ति और असतोष।

उक्त ग्रन्थ मे यह भी उल्लेख है कि .

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि।

वही,

अर्थात्—ससार मे परिग्रह जैसा जाल और प्रतिवन्ध दूसरा कोई नही है।

सासारिक वस्तुओ का और धन का परिग्रह या सग्रह विना हिसा के कदापि सभव नही है

आरभपूर्वं को परिग्रह.।

सूत्रकृतांग चूर्णि, १, २, २

और "अर्थ" अनर्थो—अर्थात्—अनेक पापो का मूल है

अत्थो मूलमणत्थाणं।

मरणसमाधि, ६०३

उस परिग्रह के पाप के परिणामस्वरूप जीव को

एवमेव परिग्गहस्स फलविवाग
इहलोइओ परलोइओ य अप्प सुहो
बहुदुक्खो महब्भओ बहुयप्पगाढो
दारुणो कक्कसो असाओ ।

प्रश्नव्याकरण, आ० द्वार, ५, २०

इस लोक मे, परलोक मे अनेक प्रकार के दु खो, महाम्यानकभयो और अनेक प्रकार की दारुण और कठोर नारकीय यातनाओ को भोगना पडता है। इसलिये शास्त्रकार का कथन है

अपरिग्गहसबुडेणं लोगम्मि विहरियव्वं।

वही, २, ३

अर्थात्—प्राणी को चाहिये कि वह अपरिग्रह पर पूर्ण सयम रखकर ही विचरण करे।

इस प्रकार-उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के सेवन से जायमान पाप की निवृत्ति सयम से ही हो सकती है, इसलिये जीव की या आत्मा की पाप से रक्षा के लिये यह अत्यावश्यक है कि उक्त सभी हिंसादि पापो पर नियत्रण के लिये सयम की साधना करनी चाहिये।

हम ऊपर अपनी सयम की परिभाषा मे यह उल्लेख कर आये है कि पाप की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही सयम है। पाप की जननी हिसा है, इस लिये सयम साधना के लिये "अहिंसा के परमधर्म" को अपनाये बिना साधक पूर्णरूपेण सयमी नही बन सकता। अहिसा तो जैन धर्म की रीढ की हड्डी है, आधारशिला है और प्राण है। यही कारण है कि "समवायाग सूत्र" के १७वे समवाय मे वर्णित १७ प्रकार के सयमो मे और "आवश्यक सूत्र" के "प्रतिक्रमणाध्ययन" मे विश्लेषित १७ प्रकार के असयमो मे सर्वत्र अहिसा के सिद्धान्त का साम्राज्य है। प्रत्येक 'प्रकार" मे जीव की हिंसा से निवृत्ति के लिये प्रेरणा अन्तर्निहित है।

सम्यग्-ज्ञान परिश्लेषण

ज्ञान जीवन का सार

णाणं णरस्य सारो

दर्शनपाहुड, ३१

अर्थात्—मानव जीवन का सार ज्ञान ही है।

जहा सुई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ।
एव जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, २६, ५६

अर्थात्—जिस प्रकार धागे मे पिरोई हुई सूई कही गिर भी जाये तो गुम नही हुआ करती, सरलता से मिल जाती है, ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा मे ज्ञानरूपी धागा पिरोया जा चुका है, वह आत्मा ससार मे कभी भी भटक नही सकती।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

भगवद्गीता, ४, ३८

अर्थात्—ज्ञान से बढकर ससार मे कोई भी वस्तु पवित्र नही है।

उक्त शास्त्र प्रमाण इस सत्य का स्पष्ट प्रमाण है कि बिना ज्ञान के जीव निस्सार है और अपवित्र है बिना ज्ञान के आत्मा अज्ञानान्धकार मे भटकने को विवश होती है। अज्ञान दु ख का प्रतीक है। जहाँ दु ख है, वहाँ शान्ति कहाँ ? अज्ञान का परिणाम ही तो दु ख है। अज्ञान आत्मा का धर्म नही है, वह तो आवरण है। आत्मा का अपना धर्म ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का सहज गुण होने का कारण आत्मा से सर्वथा अभिन्न है। निस्सन्देह आत्मा और ज्ञान मे गुण और गुणी

का सम्बन्ध है किन्तु जैन सिद्धान्त दोनो मे कोई भेद स्वीकार नही करता। यही कारण है कि वह स्वभाव से ही आत्मा को अनन्तज्ञान-शक्ति-सम्पन्न मानता है। जब तक आत्मा ज्ञानावरणकर्म से आच्छादित रहती है, तब तक उसका प्रकाश अवरुद्ध रहता है। साधना के द्वारा आवरण हटने के पश्चात् आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध ज्ञान स्वरूप, स्वस्थित, केवली या सर्वज्ञता की स्थिति को प्राप्त करती है। यह वह स्थिति है जिसमे पहुँचकर सहज ज्ञानमय आत्मा 'स्व' और 'पर' दोनो को प्रकाशमय बना देता है। अन्य दर्शनो मे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की जो त्रिपुटी मानी जाती है, उसके विषय मे जैन दर्शन अपनी स्वतन्त्र मान्यता रखता है। वह तीनो मे एकान्तत पृथक्त्व स्वीकार नही करता। आत्मा ज्ञाता भी है, अपने सहज गुण ज्ञान से सर्वथा अभिन्न होने के कारण ज्ञानरूप भी है, स्वय प्रतिभा की सम्पन्नता के कारण ज्ञेय भी है।

ज्ञान के प्रकार .

सामान्य रूप से ज्ञान दो प्रकार का होता है, यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थज्ञान सम्यग्-ज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है और अयथार्थ ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते है। ज्ञान की यथार्थता के विषय मे दार्शनिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनी-अपनी भिन्नता लिये हुए है। दार्शनिक दृष्टिकोण से उस ज्ञान को यथार्थ माना गया है जो सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित हो किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो उसी ज्ञान को यथार्थ कहा जा सकता है जिसमे किसी भी प्रकार का मिथ्यात्व न हो। उस ज्ञान मे मिथ्यात्व होगा तो वह यथार्थज्ञान न रहकर मिथ्याज्ञान हो जायेगा। जिस जीव या आत्मा मे सम्यग्दर्शन का अभिनिवेश हो चुका है, उसे ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्यग्-ज्ञानवान् कहा जाता है। जिस ज्ञान की पृष्ठभूमि मे सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय न हो, जिसका लक्ष्य दूषित हो, आत्मविकास की प्रवृत्ति न हो, दुराग्रह हो, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उसे अयथार्थ ज्ञान ही कहा जायेगा।

यद्यपि ज्ञान अपने सहजस्वरूप मे तो एक ही है किन्तु ज्ञान की

तरतम अवस्थाओ के कारण और ज्ञान के विपयो की विविधता के कारण उसे पाँच भागो मे विभक्त किया गया है

तत्थ पंचविह नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहि नाणं तु तइयं, मणनाण च केवलं॥

उत्तराध्ययन, २८,४

अर्थात्—

१—मतिज्ञान,
२—श्रुतज्ञान,
३—अवधिज्ञान,
४—मन पर्याय ज्ञान,
५—केवल ज्ञान,

मतिश्रुतावधिमनःपर्याय केवलानि ज्ञानम्।

तत्वार्थसूत्राणि, १,६

ये पांच ज्ञान के भेद है। उक्त पाँचो प्रकार के ज्ञानो मे से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष माना गया है

तत्प्रमाणे। ` परोक्षम्।

वही, १,१०,११

अवधिज्ञान और मन पर्याय को प्रत्यक्ष माना गया है।

प्रत्यक्षमन्यत्।

वही, १,१२

जैनेतर दर्शनो में :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

अर्थात्—इन्द्रियो के विषयो के सम्पर्क से होने वाला जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे नेत्रो से रूप का ज्ञान, नाक से गन्ध का ज्ञान, जिह्वा से रस का ज्ञान, त्वचा से शीत उष्ण और स्पर्श का ज्ञान और कान मे शब्द का ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है किन्तु जैनदर्शन की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है। जैन दर्शन मे इन्द्रियजन्य

ज्ञान और मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि मे नही आता। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार तो सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा है। वहाँ इन्द्रियो की और मन की सहायता की आवश्यकता को स्वीकार नही किया गया। निस्सन्देह लोक व्यवहार मे तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है किन्तु पारमार्थिक रूप मे उसे स्वीकार नही किया गया।

मतिज्ञान

मतिज्ञान के कारण भेद के कारण दो भेद है—

१—इन्द्रियजन्यज्ञान,
२—मनोजन्यज्ञान।

विषय भेद से मतिज्ञान के पाँच भेद किये गये है—

मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

वही, १,१३

अर्थात्—मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध ये मतिज्ञान के पाँच भेद हैं।

इन्द्रिय और मन के सयोग से उत्पन्न होने वाले वर्तमान ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। पूर्वानुभूत वस्तु की स्मति, स्मृति-ज्ञान का विषय है। पूर्वानुभूत और वर्तमान कालानुभूत वस्तुओ मे एकत्व की स्थापना को सज्ञा ज्ञान कहते है। भविष्य के ऊपर चिन्तन करना, चिन्ताज्ञान कहलाता है। अनुमान का दूसरा नाम आभिनिबोध है।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान का साधारण अर्थ है—सुना हुआ ज्ञान। श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना परमावश्यक है। श्रोता को शब्दो का बोध होना मतिज्ञान है किन्तु शब्दसमूह के वाक्यार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है। वास्तव मे मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान होगा तभी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा नही। परोक्ष-दृष्टि से देखने से यद्यपि दोनो ज्ञान एक ही कोटि के है किन्तु तो भी प्रकृति मे उन दोनो मे अन्तर है। कार्य कारण की भिन्नता के अतिरिक्त मतिज्ञान तो प्रधान रूप से वर्तमान से सम्बन्ध रखता है

इसके विपरीत श्रुतज्ञान का विषय तो तीनो काल है। सक्षेप मे मतिज्ञान यदि धागे है तो श्रुतज्ञान उनसे बना हुआ वस्त्र है।

श्रुतज्ञान के मूल रूप मे दो भेद है—

१—द्रव्यश्रुत,
२—भावश्रुत ।

भावश्रुत 'ज्ञानात्मक' है और द्रव्यश्रुत का ही दूसरा नाम 'आगमवाड्मय' है। धर्म का मूलाधार आगम साहित्य है। व्यावहारिक क्षेत्र मे विश्व का सारा कर्मकाण्ड, लौकिक और पारलौकिक, सभ्यता और सस्कृति सब भिन्न-भिन्न धर्मो के आगमो से अनुप्राणित हे। इस आगम साहित्य को आप्त साहित्य भी कहा है। 'जो आप्त द्वारा प्रतिपादित हो, तर्क द्वारा अनुल्लघनीय हो और प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणो से जो अनुमोदित हो' वही जैन दृष्टि से सच्चा आगम साहित्य होता है। वैदिक मान्यता की तरह जैनधर्म आगम साहित्य को 'अपौरुपेय' नही मानता है किन्तु आप्त पुरुषो द्वारा उसकी प्रामाणिकता होने के कारण ही आगम साहित्य प्रामाणिक माना जाता है। अनेकान्तवाद के प्रवर्तक, त्रैकालिक सत्य के द्रष्टा, केवलज्ञान के निधि, तीर्थंकरो की वाणी से नि सृत प्रवचन-प्रसून आगम साहित्य के नाम से जाने जाते है।

ज्ञान के भण्डार आगम

ज्ञान के भण्डार इन आगामो को दो भागो मे विभक्त किया गया है—

१—अगप्रविष्ट,
२—अगबाह्य ।

वह श्रुत, जिसका उपदेश तीर्थंकर दिया करते है और गणधर जिसे शब्द-बद्ध किया करते है, 'अगप्रविष्ट आगम' कहलाता है। 'अगप्रविष्ट' का शब्दार्थ है 'अगो मे अन्तर्गत होने वाला।' इन अगो की सख्या बारह है।

१—आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४)समवाय, (५)व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृ धर्म कथा, (७)उपासकदशा, (८)अन्तकृद्दशा,

(९)अनुत्तरोपपातिक, (१०) प्रश्न व्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद ।

जैन धर्म मे इन बारह अगो को समग्र जैनवाड्मय का मूलाधार माना जाता है। इन अगो के आधार पर आचार्यों द्वारा रचे गये अनेक ग्रन्थ अगबाह्य कहलाते है। इन अगबाह्य ग्रन्थो की सख्या विशाल है। बारह उपागसूत्र, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र, आवश्यक और फिर प्राय इन सब की व्याख्या के रूप मे रचित चूर्णि, निर्युक्ति और टीका के अनेक ग्रन्थो का जैनाचार्यो और जैन विद्वानो ने प्रणयन करके जैनवाड्मय को बडा ही समृद्ध बनाया है। आगम साहित्य के अतिरिक्त दर्शन साहित्य के निर्माण मे भी जैनाचार्यो ने अपनी, प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है। कोई भी साहित्य का क्षेत्र उनकी साहित्य निर्माण की प्रतिभा से अछूता नही रहा। दर्शन, अध्यात्म, व्याकरण, अलकार, छन्द, कोष, काव्य, आयुर्वेद, ज्योतिष, मत्रशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि सभी प्रकार के विषयो पर जैनाचार्य और मनीषियो ने मौलिक रचनाएँ करके भारतीय साहित्य की समृद्धि मे महान् प्रशसनीय योगदान दिया है।

अवधिज्ञान

"अवधि" का अर्थ है "सीमा या मर्यादा"। जिस ज्ञान मे इन्द्रियो की और मन की सहायता के बिना ही आत्मा अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा रूपी पदार्थों को किसी सीमा तक जानने लगता है, वह "अवधिज्ञान" के नाम से जाना जाता है।

तत्वार्थसूत्र के अनुसार—

द्विविधोऽवधि.।
तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
यथोक्तनिमित्त· षड्विकल्प शेषाणम्।
तत्वार्थसूत्राणि, १,२१,२३

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। उन दोनो मे से भवप्रत्यय, नारक और देवो को होता है। "यथोक्त निमित्ताक्षयोपशमजन्यअवधि छै प्रकार का होता है जो शेप अर्थात्—तिर्यच तथा मनुष्यो को होता है। सरल शब्दो मे अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुण-प्रत्यय ऐसे दो

भेद है । जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है, वह भव-प्रत्यय कहलाता है। उसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम-आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा नही रहती। जो अवधिज्ञान जन्म सिद्ध नही है किन्तु जन्म लेने के पश्चात् व्रत, नियम आदि गुणो के अनुष्ठान से प्रकट किया जाता है वह "गुणप्रत्यय" या "क्षयोपशमजन्य" के नाम से अभिहित होता है। मानवो से लेकर तीर्थंकरो तक सब को अवधिज्ञान साधना के द्वारा ही सुलभ होता है। इस साधना की सीमा इसी जन्म तक सीमित नही है। जन्म मरण की शृ खला मे पडा हुआ आत्मा अपने पूर्वजन्म के सस्कारो को साथ लेकर जन्म लिया करता है, इस लिए पूर्वजन्म की साधना के सस्कार भी इस जन्म की साधना मे महान् सहायक वन जाया करते हैं। इन सस्कारो के परिणाम स्वरूप वर्तमान जीवन मे अल्प समय मे भी जीव अवधिज्ञान प्राप्त करने मे सफल हो जाता है।

मनःपर्यायज्ञान :

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार।

ऋजुविपुलमती मन पर्याय ।
विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष. ।।

तत्वार्थसूत्राणि, १-२४-२५

मन वाले प्राणी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते है। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार, चिन्तनकार्य मे प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियो को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय है और उस मानसिक आकृतियो को साक्षात् जानने वाला ज्ञान 'मन पर्यायज्ञान' कहलाता है। इस ज्ञान के बल से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ ही जानी जा सकती है। परन्तु चिन्तनीय वस्तुएँ नही।

जो विषय को सामान्यरूप से जानता है, वह ऋजुमति मन-पर्यायज्ञान है और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमति मन पर्याय ज्ञान के नाम से जाना जाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन पर्यायज्ञान विशुद्धतर इसलिए होता है क्योकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और विशेषताओ को अधिक स्फुटता से जान सकता

है। इसके अतिरिक्त ऋजुमति मन पर्यायज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कभी चला भी जाता है किन्तु विपुल-मति मन पर्यायज्ञान तो केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसके अतिरिक्त :

विशुद्धिक्षेत्रस्वाभिविषयेभ्योऽवधिमन पर्याययो ।

तत्वार्थ, १, २६

अर्थात्—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा भी अवधि और मन पर्याय का अन्तर जाना जा सकता है। यद्यपि अवधि और मन पर्याय ये दोनो अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप मे समान है, तो भी दोनो मे कई प्रकार से भिन्नता है। जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत। स्वामिकृत और विषयकृत मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को वहुत विशेष रूप से जानता है, इसलिए वह इससे विशुद्धतर है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवे भाग से लेकर सारा लोक है और मन - पर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वतपर्यन्त ही है। अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति वाले हो सकते है परन्तु मन पर्याय के स्वामी केवल सयत मनुष्य हो सकते है। अवधि का विपय कतिपय पर्याय-सहित रूपी द्रव्य है परन्तु मन पर्याय का विषय तो केवल उसका अनन्तवा भाग है।

तदनन्तभागे मन.पर्यायस्य ।

वही, १, २९

जिस व्यक्ति का सयम उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच गया है और जिसका अन्त करण पूर्णरूपेण निर्मल हो चुका है, वही मन-पर्याय ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है। सयम की साधना मनुष्य योनि मे ही सभव है, इस कारण यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है। यह वह ज्ञान हैं जिसके द्वारा किसी भी समनस्क व्यक्ति के मनोभावो को वडी आसानी से समझा जा सकता है।

केवल ज्ञान

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।

वही, १, ३०

भेद है । जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है, वह भव-प्रत्यय कहलाता है । उसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम-आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा नही रहती । जो अवधिज्ञान जन्म सिद्ध नही है किन्तु जन्म लेने के पश्चात् व्रत, नियम आदि गुणो के अनुष्ठान से प्रकट किया जाता है वह "गुणप्रत्यय" या "क्षयोपशमजन्य" के नाम से अभिहित होता है । मानवो से लेकर तीर्थंकरो तक सब को अवधिज्ञान साधना के द्वारा ही सुलभ होता है । इस साधना की सीमा इसी जन्म तक सीमित नही है । जन्म मरण की शृ खला मे पडा हुआ आत्मा अपने पूर्वजन्म के सस्कारो को साथ लेकर जन्म लिया करता है, इस लिए पूर्वजन्म की साधना के सस्कार भी इस जन्म की साधना मे महान् सहायक बन जाया करते है । इन सस्कारो के परिणाम स्वरूप वर्तमान जीवन मे अल्प समय मे भी जीव अवधिज्ञान प्राप्त करने मे सफल हो जाता है ।

मन·पर्यायज्ञान .

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार ।

ऋजुविपुलमती मन पर्याय ।
विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष ॥
तत्वार्थसूत्राणि, १-२४-२५

मन वाले प्राणी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते है। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार, चिन्तनकार्य मे प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियो को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय है और उस मानसिक आकृतियो को साक्षात् जानने वाला ज्ञान 'मन पर्यायज्ञान' कहलाता है। इस ज्ञान के बल से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ ही जानी जा सकती है। परन्तु चिन्तनीय वस्तुएँ नही ।

जो विषय को सामान्यरूप से जानता है, वह ऋजुमति मन-पर्यायज्ञान है और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमति मन पर्याय ज्ञान के नाम से जाना जाता है । ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन पर्यायज्ञान विशुद्धतर इसलिए होता है क्योकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और विशेषताओ को अधिक स्फुटता से जान सकता

है। इसके अतिरिक्त ऋजुमति मन पर्यायज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कभी चला भी जाता है किन्तु विपुल-मति मन पर्यायज्ञान तो केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसके अतिरिक्त :

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन पर्याययो ।

तत्वार्थ, १, २६

अर्थात्—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा भी अवधि और मन पर्याय का अन्तर जाना जा सकता है। यद्यपि अवधि और मनः पर्याय ये दोनो अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप मे समान है, तो भी दोनो मे कई प्रकार से भिन्नता है। जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत। स्वामिकृत और विषयकृत मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशेष रूप से जानता है, इसलिए वह इससे विशुद्धतर है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवे भाग से लेकर सारा लोक है और मन-पर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वतपर्यन्त ही है। अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति वाले हो सकते है परन्तु मन पर्याय के स्वामी केवल सयत मनुष्य हो सकते है। अवधि का विषय कतिपय पर्याय-सहित रूपी द्रव्य है परन्तु मन पर्याय का विषय तो केवल उसका अनन्तवा भाग है।

तदनन्तभागे मन पर्यायस्य ।

वही, १, २९

जिस व्यक्ति का सयम उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच गया है और जिसका अन्त करण पूर्णरूपेण निर्मल हो चुका है, वही मन-पर्याय ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है। सयम की साधना मनुष्य योनि मे ही सभव है, इस कारण यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है। यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा किसी भी समनस्क व्यक्ति के मनोभावो को बडी आसानी से समझा जा सकता है।

केवल ज्ञान

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।

वही, १, ३०

अर्थात्—केवल ज्ञान की प्रवृत्ति सर्वद्रव्य और सर्व पर्यायो मे मानी गई है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावो को जान सके वह सब वस्तुओ के सम्पूर्ण भावो को भी ग्रहण कर सकता है। इसी भाव को पूर्णज्ञान भी कहते है और केवल ज्ञान इसी का दूसरा नाम है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान अनन्त और असीम है। केवल ज्ञान, ज्ञान की उच्चतम स्थिति का प्रतीक है। जिस आत्मा को इस ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है या दूसरे शब्दो मे जो जीव पूर्णज्ञानमय बन जाता है, वह तीनो लोको की और तीनो कालो की सम्पूर्ण वस्तुओ को एक ही समय मे जान सकता है। आगम मे इस सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है—

नाणेण जाणई भावे।

उत्तराध्ययन, २८, ३५

नाण सपन्नयाए जीवे।
सव्वभावाहिगमं जणयइ ॥

वही, २९,५९

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान होने पर, सभी द्रव्यो का, उनके पर्यायो का, उनके गुणो का और उनके धर्मो का भली-भाति ज्ञान हो जाता है।

यह केवली आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और चिन्मय हो जाता है। जीव के आध्यात्मिक अध्यवसाय का केवल ज्ञान चरम परिणाम है। केवल ज्ञान पूर्ण ज्ञान है। पूर्णता के कारण इसके अन्य ज्ञानो के समान भेद प्रभेद नही हो सकते। उक्त पाँच प्रकार के ज्ञान-विवरण मे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तो मिथ्यात्व के सम्पर्क मे आकर मिथ्याज्ञान का रूप भी ग्रहण कर सकते है किन्तु मन पर्याय और केवल ज्ञान को मिथ्या दृष्टि कदापि दूषित नही कर सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो मन पर्यायज्ञान के धनी साधक को मिथ्यात्व इसलिए नही छू सकता क्योकि वह अपने ज्ञान की शक्ति से पहले ही मिथ्यात्व को जान लेता है। जानने के पश्चात् मिथ्यात्व मे प्रवृत्ति सभव नही। केवल ज्ञान की उपलब्धि होती ही मिथ्यात्व के पूर्ण नाश

से है, इसलिए उस पर मिथ्यात्व के प्रभाव का प्रश्न ही पैदा नही होता।

सक्षेप मे केवल ज्ञान आत्म विकास की चरम सीमा है। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान को आध्यात्मिक सहिता मे अन्य आध्यात्मिक तत्वो की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया गया है।

पढमं नाण

दशवैकालिकसूत्रम्, ४,१०

६

कर्मसिद्धान्त

जीव तत्व को प्रभावित करने वाली सत्ता

भारतीय वाड्मय के अन्तर्गत प्राय सभी दर्शनो ने एक ऐसे तत्व की सत्ता को स्वीकार किया है जो किसी न किसी रूप मे आत्मा या जीव तत्व को प्रभावित करती रहती है। इस सत्ता की स्वीकृति के विना जीव तत्व मे दृष्टिगोचर होने वाली बहुमुखी आन्तरिक और वाह्य सम-विपम दशाओ को न तो पूर्ण रूप से समझा ही जा सकता है और न ही उनकी समुचित सगति ही बैठाई जा सकती है। जीव तत्व को प्रभावित करने वाली सत्ता को वेदान्तियो ने "अविद्या" के नाम से पुकारा है। बौद्ध दर्शन मे उसे "वासना" का नाम दिया गया है। साख्य दर्शन मे इसे "प्रकृति" कहा गया है। न्यायवैशेषिक मे इस सत्ता का नाम "अदृष्ट" दिया है। जैन दर्शन मे इस सत्ता को "कर्म" के नाम से अभिहित किया गया है[1]। सब दर्शनो ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार इस सत्ता की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की है किन्तु जैन दर्शन मे "कर्म" नाम से आख्यात इस सत्ता का जैसा सागोपाग और सगत विवेचन किया है, ऐसा अन्यत्र नही मिलता।

कर्म सत्ता स्वीकृति में कारण :

जीव को स्वभाव की दृष्टि से यदि देखा जाये तो ससार के सब जीव समान सिद्ध होते है। फिर क्या कारण है कि ससार मे कुछ जीव तो ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, सब प्रकार की सुख सुविधाओ और विलास के साधनो से युक्त है, और दूसरे ऐसे भी है जो नारकीय जीवन की यातनाये भोग रहे है। जब जीव का स्वरूप विराट् चैतन्य है, उसमे साक्षात् ईश्वरत्व प्राप्त करने की शक्ति है, जैन दृष्टि से वह

केवल ज्ञानी बनने की सामर्थ्य रखता है, उसे शुद्ध बुद्ध, निरजन और ससार की माया से परिवर्जित कहा गया है और जिसको वेदान्त दर्शन मे साक्षात् पर-ब्रह्म के नाम से पुकारा गया है, तब वह शरीर की कारागार मे बन्द क्यो है? यदि जीव नित्य है तो वह मृत्यु का शिकार क्यो बन जाता है? अमूर्तस्वरूप होता हुआ, वह मूर्त मे बद्ध क्यो है? एक ही माता पिता की भिन्न-भिन्न सन्ताने भिन्न-भिन्न प्रकृति वाली और शुभ, अशुभ परिणामो वाली क्यो है? इत्यादि अनेक प्रकार के ऐसे जटिल प्रश्न है जिनका उत्तर कर्म सिद्धान्त की सत्ता को स्वीकार किये विना नही दिया जा सकता।

कर्मस्वरूप :

कर्म न तो सस्कार मात्र ही है और न ही वासना रूप ही। यह तो पौद्गलिक है। जैन दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल का वन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है और इस वन्ध के कारण है, राग-द्वेषादि भाव। पुद्गल की तेईस वर्गणाओ मे से एक कार्मणवर्गणा भी है जो सर्वत्र व्यापक रूप मे विद्यमान रहती है। यह कार्मण-वर्गणा ही प्रत्येक जीव को राग-द्वेष से लिप्त करती है, उसमे मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य के रूप मे जीव मे प्रवेश पाती है और जीव मे राग-द्वेषरूप भावो का निमित्त पाकर जीव से बध जाती है। इस बध के परिणाम स्वरूप ही समय-समय पर जीव को शुभ या अशुभ फलो की प्राप्ति होती रहती है। दूसरे शब्दो मे जब राग और द्वेष से आवृत जीव अच्छे या बुरे कर्मों मे प्रवृत्ति करता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमे प्रवेश करता है[४]। इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्म एक मूर्त पदार्थ है जो जीव की राग द्वेष मे प्रवृत्ति के कारण बध को प्राप्त हो जाता है। जैन वाड्मय मे कर्म को स्वतन्त्र तत्व के रूप मे माना है। कर्म को अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध कहा गया है। कर्म की तीन अवस्थाएँ मानी गई है। समस्त विश्व मे जीवात्मा की शुभ या अशुभ प्रवृत्तियो के परिणाम स्वरूप कर्म जीवात्मा के साथ बधते जाते है। उनकी इस स्थिति को बधावस्था कहा गया है। बधन के पश्चात् कर्म सत्ता मे आ जाते है। इसी सत्तावस्था मे कर्मो का परिपाक होता रहता है। परिपाक के पश्चात् जब सुख दुःख रूप फल

मिलता है, वह कर्मो की उदयावस्था कहलाती है। अन्य दर्शनो मे जो कर्मो की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध नाम की तीन कोटियां बताई गई है उनमे और जंन दर्शन की बध, मत् और उदय की अवस्थाओ मे विशेप अन्तर प्रतीत नही होता।

कर्मफल प्रक्रिया ·

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्मों का फल प्रदान करने वाला ईश्वर को माना गया है। वहाँ कहा गया है कि सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ईश्वर ही सब जीवो के कर्मो का यथायोग्य फल प्रदान करने वाला है[3]। उसके अतिरिक्त न तो जड प्रकृति ही कर्मो को जानने और उनके फल की व्यवस्था करने मे समर्थ है और नही जीवात्मा है। इन्हे अल्पशक्ति वाले कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्यचेतन आत्माओ के कर्म फल भोगो का विधान करने वाला है[1]। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार जीव को कर्म फल प्रदान करने के लिये किसी ईश्वर नाम की शक्ति की आवश्यकता नही मानी गई है। कर्म जड है इस कारण कर्म फल देने की सामर्थ्य उनमे कैसे हो सकती है, इस धारणा को सारहीन माना है। हम दैनिक जीवन मे प्रत्यक्ष देखते है कि जड पदार्थो मे फल प्रदान की शक्ति विद्यमान है। जो व्यक्ति मद्यपान करता है। उसमे उन्माद लाने के लिये किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नही पडती। दूध पीने से पुष्टि स्वत मिल जाती है, भोजन से तृप्ति और जल से तृपा शान्ति अपने आप हो जाती है। सन् १९५३ के नवनीत के जनवरी के साप्ताहिक अक मे एक "ट्रुथ ड्रग" अर्थात्—सत्य बुलवाने वाली औषधि का उल्लेख है जिसका इजेक्शन देते ही मनुष्य सच्ची बात बता देता है। इसी पत्र के नवम्बर १९५२ के अक मे समाचार था कि डाक्टरो ने ऐसे इजेक्शन का आविष्कार किया है जिसके लगते ही अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता है[5]। उपर्युक्त सभी पदार्थ जड होते हुए भी फल प्रदान करने मे जैसे समर्थ है, वैसे ही कर्म जड होता हुआ भी निज फल प्रदान की शक्ति से सम्पन्न है। उपर्युक्त मद्यादि पदार्थ जीव के गुण नही है, वैसे ही कर्म भी जीवात्मा का गुण नही है किन्तु पौद्गलिक है। मद्यपान करने से जैसे प्राणी

मे उन्माद पैदा हो जाता है और उसकी सारी अवस्था परिवर्तित हो जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव के साथ जब कर्म का बध होता है तो उसकी अवस्था मे भी परिवर्तन पैदा हो जाता है। शरीर पौद्गलिक है। यदि आहारादि मनोवाछित सामग्री उपलब्ध हो जाये तो सुख की अनुभूति होती है, और यदि कोई शरीर पर शस्त्र का प्रहार कर दे तो दु ख की अनुभूति होती है। आहार और शस्त्र दोनो पौद्गलिक है, इस कारण सुख-दु ख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्म मूर्त द्रव्य है आत्मा अमूर्त है। मूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध तो हम देखते है किन्तु अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव होगा ? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तवाद देता है। अनादि काल से कर्मबद्ध विकारी आत्माए दृष्टिगोचर होती है। ये आत्माएँ कथचित् मूर्त भी है और कथचित् अमूर्त भी। स्वस्वरूप की अपेक्षा से अमूर्त है और ससारी दशा की अपेक्षा से मूर्त है। इसी दृष्टिकोण से जीव दो प्रकार के माने जाते है रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी है और ससारी जीव रूपी। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध अवश्य है किन्तु जो जीव एक बार कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है वह फिर कर्म बधन मे नही पडता। जीव जन्म-मरण की धारा मे तब तक पडा रहेगा जब तक रागरूप और द्वेषरूप परिणाम उसमे विद्यमान है। इन परिणामो के कारण नये कर्मो का बध होता है। कर्मो के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेना पडता है। जन्म से शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर मे इन्द्रियाँ होती है, इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण करने से कुछ विषयो के प्रति राग और कुछ के प्रति द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जीव के भावो द्वारा कर्म बध और कर्म बध से राग द्वेषरूप भाव पैदा होते है और जीव ससार-चक्र मे भ्रमण करता रहता है। अभव्य जीव की अपेक्षा से यदि हम इस ससार-चक्र को देखें, तो यह अनादि और अनन्त है, भव्य जीव की अपेक्षा से देखे तो यह अनादि और सान्त है[8]।

मिलता है, वह कर्मो की उदयावस्था कहलाती है। अन्य दर्शनो मे जो कर्मो की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध नाम की तीन कोटियाँ बताई गई हे उनमे और जैन दर्शन की वध, सत् और उदय की अवस्थाओ मे विशेप अन्तर प्रतीत नही होता।

कर्मफल प्रक्रिया

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्मो का फल प्रदान करने वाला ईश्वर को माना गया है। वहाँ कहा गया है कि सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ईश्वर ही सब जीवो के कर्मो का यथायोग्य फल प्रदान करने वाला है[3]। उसके अतिरिक्त न तो जड प्रकृति ही कर्मो को जानने और उनके फल की व्यवस्था करने मे समर्थ है और नही जीवात्मा है। इन्हे अल्पशक्ति वाले कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्यचेतन आत्माओ के कर्म फल भोगो का विधान करने वाला है[4]। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार जीव को कर्म फल प्रदान करने के लिये किसी ईश्वर नाम की शक्ति की आवश्यकता नही मानी गई है। कर्म जड है इस कारण कर्म फल देने की सामर्थ्य उनमे कैसे हो सकती है, इस धारणा को सारहीन माना है। हम दैनिक जीवन मे प्रत्यक्ष देखते है कि जड पदार्थो मे फल प्रदान की शक्ति विद्यमान है। जो व्यक्ति मद्यपान करता है। उसमे उन्माद लाने के लिये किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नही पडती। दूध पीने से पुष्टि स्वत मिल जाती है, भोजन से तृप्ति और जल से तृषा शान्ति अपने आप हो जाती है। सन् १९५३ के नवनीत के जनवरी के साप्ताहिक अक मे एक "ट्रुथ ड्रग" अर्थात्—सत्य बुलवाने वाली औषधि का उल्लेख है जिसका इजेक्शन देते ही मनुष्य सच्ची बात बता देता है। इसी पत्र के नवम्बर १९५२ के अक मे समाचार था कि डाक्टरो ने ऐसे इजेक्शन का आविष्कार किया है जिसके लगते ही अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता है[5]। उपर्युक्त सभी पदार्थ जड होते हुए भी फल प्रदान करने मे जैसे समर्थ है, वैसे ही कर्म जड होता हुआ भी निज फल प्रदान की शक्ति से सम्पन्न है। उपर्युक्त मद्यादि पदार्थ जीव के गुण नही है, वैसे ही कर्म भी जीवात्मा का गुण नही है किन्तु पौद्गलिक है। मद्यपान करने से जैसे प्राणी

मे उन्माद पैदा हो जाता है और उसकी सारी अवस्था परिवर्तित हो जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव के साथ जब कर्म का बध होता है तो उसकी अवस्था मे भी परिवर्तन पैदा हो जाता है। शरीर पौद्गलिक है। यदि आहारादि मनोवाछित सामग्री उपलब्ध हो जाये तो सुख की अनुभूति होती है, और यदि कोई शरीर पर शस्त्र का प्रहार कर दे तो दु ख की अनुभूति होती है। आहार और शस्त्र दोनो पौद्गलिक है, इस कारण सुख-दु ख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्म मूर्त द्रव्य है आत्मा अमूर्त है। मूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध तो हम देखते है किन्तु अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव होगा ? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तवाद देता है। अनादि काल से कर्मबद्ध विकारी आत्माए दृष्टिगोचर होती है। ये आत्माएँ कथचित् मूर्त भी है और कथचित् अमूर्त भी। स्वस्वरूप की अपेक्षा से अमूर्त है और ससारी दशा की अपेक्षा से मूर्त है। इसी दृष्टिकोण से जीव दो प्रकार के माने जाते है रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी है और ससारी जीव रूपी। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध अवश्य है किन्तु जो जीव एक बार कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है वह फिर कर्म बधन मे नही पडता। जीव जन्म-मरण की धारा मे तब तक पडा रहेगा जब तक रागरूप और द्वेषरूप परिणाम उसमे विद्यमान है। इन परिणामो के कारण नये कर्मो का बध होता है। कर्मो के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म लेना पडता है। जन्म से शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर मे इन्द्रियाँ होती है, इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण करने से कुछ विषयो के प्रति राग और कुछ के प्रति द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जीव के भावो द्वारा कर्म बध और कर्म बध से राग द्वेषरूप भाव पैदा होते है और जीव ससार-चक्र मे भ्रमण करता रहता है। अभव्य जीव की अपेक्षा से यदि हम इस ससार-चक्र को देखें, तो यह अनादि और अनन्त है, भव्य जीव की अपेक्षा से देखे तो यह अनादि और सान्त है[6]।

साराश यह है कि यह जीव अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण अशुद्ध है और जब तक यह अशुद्ध रहेगा तब तक ससारचक्र या जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा नही प्राप्त कर सकता। बन्ध के मूल कारण राग द्वेषादि का विनाश होते ही ससारचक्र समाप्त हो जाता है।

कर्मबन्धन का कारण

सामान्य रूप से तो मन ही कर्मबन्ध का कारण है। वचन और काय उसकी सहायता करते हैं। मन, वचन और काय की शुभ और अशुभ रूप मे अनन्तानन्त वृत्तियाँ होती है[7]। हिसा चोरी, मैथुन आदि काय के अशुभ व्यापार है। दया, सेवा, ब्रह्मचर्य काय के शुभ व्यापार है। कटुभाषा वाणी का अशुभ व्यापार है और मधुर भाषण वाणी का शुभ व्यापार है। शुभ मनोवृत्तियो से पापकर्म का बन्ध होता है[8]।

कुछ विद्वानो के मत मे कर्मबन्ध के मुख्य कारण कषाय और योग है, बाकी के सब कारण इन्ही के अन्तर्भूत हो जाते है। जो कर्माणु कषायो और योग से बन्धते है, वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं। जो कषाय के अभाव मे केवल गमनागमन आदि क्रियाओ के कारण बन्धते है वे ईर्यापथिक कर्म कहलाते है[9]।

सक्षेप मे कषाय ही कर्मबन्ध के मूल कारण है[10]। जो उच्च कोटि के साधक होते है वे कषायो की सीमा को पार करके समभावी बन जाते है। कषाय के द्वारा किस प्रकार कर्म आत्मा के साथ चिपक जाते है और किस रीति से उनका आत्मा से चिपकना बन्द भी हो सकता है, इसके लिये जैन शास्त्र मे एक बडा सुन्दर उदाहरण देकर समझाया गया है।

आत्मा को एक स्वच्छ दीवार, कषायो को गोद और योग के लिये यदि वायु की कल्पना करली जाये तो बन्ध की प्रक्रिया बडी सरलता से समझ मे आ सकती है। आत्मारूपी दीवार पर जब कषायो का गोद लगा रहता है तो योग की आन्धी से उडकर आई हुई कर्मरूपी धूल उससे चिपक जाती है। वह चिपक जितनी सबल या निर्बल होगी, बन्ध भी उतना ही दृढ या शिथिल होगा। धूल, श्वेत, काली जैसी भी होगी वैसे ही चिपक जायेगी। यदि कषाय का गोद हटा

लिया जाये, और दीवार सूखी कर दी जाये तो धूल का आगमन और निर्गमन तो नही रुकेगा किन्तु उसका चिपकना बन्द हो जायेगा। इस उदाहरण से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मो का अन्तर भी भलीभाति स्पष्ट हो जाता है। कर्म परमाणुओ का अगमन योग शक्ति के बलाबल पर निर्भर करता है किन्तु बन्धन की तीव्रता-मन्दता या चिपकन कषायो के भाव अभाव पर निर्भर करती है।

कर्मों का वर्गीकरण :

जीव के अध्यवसाय और मनोविकार सख्यातीत है। एक ही प्राणी के अध्यवसाय और मनोविकार क्षण-क्षण मे परिवर्तन शील है और क्षण-क्षण मे नये उत्पन्न होते रहते है। जैसे उनकी सख्या अनन्त है, वैसे ही कर्मो की सख्या भी अनन्त है। कर्मो का स्वभाव, स्थितिकाल परिणाम और प्रभाव जीव के अध्यवसायो के अनुरूप ही निश्चित हुआ करता है। स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ भेद किये गये है।

१—ज्ञानावरण
२—दर्शनावरण
३—वेदनीय
४—मोहनीय
५—आयुष्य
६—नाम
७—गोत्र और
८—अन्तराय[11]

ज्ञानावरण :

जिस प्रकार, आकाश मण्डल मे बादलो के छा जाने से सूर्य का प्रकाश रुक जाता है, उसी प्रकार जब ज्ञान गुण पर कर्म पुद्गल छा जाते है तो जीव की वास्तविक चेतना को मूर्छित बना देते है। ये कर्मपुद्गल ज्ञानावरण स्वभाव वाले कहे जाते है। ज्ञान पाँच प्रकार के है, इस कारण उन्हे आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म भी पाच प्रकार का होता है।

१—मतिज्ञानावरण
२—श्रुतज्ञानावरण

३—अवधिज्ञानावरण
४—मन पर्यायज्ञानावरण
५—केवलज्ञानावरण[12]

दर्शनावरण :

वह कर्म जो आत्मा के दर्शन गुण को बाधा पहुचाये, वह दर्शना-वरण कर्म कहलाता है । इसके भी नौ भेद है जो निम्नलिखित है

१—निद्रा
२—निद्रानिद्रा
३—प्रचला
४—प्रचला-प्रचला
५—स्त्यानगृद्धि
६—चक्षु
७—अचक्षु
८—अवधि
९—केवल[13]

वेदनीय

वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का होता है, १—सातावेदनीय और २—असाता वेदनीय । जिस कर्म का उदय प्राणी मे सुख की उत्पत्ति का निमित्त बनता है, वह सातावेदनीय कर्म होता है जिस कर्म के उदय से प्राणी के लिये अनेक प्रकार के दुख उत्पन्न हो जाये, वह असाता वेदनीय कर्म है[14] ।

मोहनीय कर्म

जिस प्रकार सुरापान से प्राणी मे एक प्रकार का उन्माद हो जाता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म प्राणी को विवेक शून्य बना देता है । यह भी दो प्रकार का है । १—दर्शनमोहनीय और २—चरित्र मोहनीय[15] । सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना या उसमे बाधा उत्पन्न कर देना दर्शन मोहनीय कर्म का काम है । मोहनीय कर्म के सब मिलाकर २८ भेद माने गये है जो लेख विस्तार के भय से यहाँ देने सम्भव नही ।

आयु कर्म :

यह कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर मे

निश्चित अवधि तक कैद रखता है। यह भी ऊपर की चार योनियो के आधार पर चार प्रकार का है।

नाम कर्म :

इस नाम कर्म के कारण ही ससार मे प्राणियो के नाना आकार प्रकार वाले शरीरो का निर्माण होता है। प्राणी जगत मे जो आश्चर्य-जनक विचित्रता हमे दृष्टिगोचर होती है, उसका प्रधान कारण यही नाम कर्म है। यह भी शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का वताया है। शुभ और अशुभ इन दोनो के भी अनेक भेद हैं।

गोत्र कर्म :

जैसे छोटे या बडें पात्रो का निर्माण करना कुम्हार के हाथ मे होता है, इसी प्रकार उच्च या नीच कुल मे जन्म होना गोत्रकर्म पर निर्भर करता है। यह भी दो प्रकार का है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

अन्तराय :

यह अभीष्ट की प्राप्ति मे रुकावट डालने वाला कर्म है। यह भी पाँच प्रकार का है।

१—दानान्तराय,

२—लाभान्तराय,

३—भोगान्तराय,

४—उपभोगान्तराय,

५—वीर्यान्तराय।

प्रकृतिवन्ध या स्वभाव के आधार पर किये गये उपर्युक्त कर्म के आठ भेद "घातिकर्म" और "अघातिकर्म" इन दो भागो मे विभक्त किये गये है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, ये चार "घातिकर्म" कहे जाते है, क्योकि इनके द्वारा जीव मे रहने वाली अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियो का घात होता है। शेष चार वेदनीय, आयु, नाम एव गोत्र, अघातिकर्म कहलाते है क्योकि ये इतने हल्के होते है कि जीव के विकास मे किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नही करते।

उद्धरण

१. जैनसिद्धान्त दीपिका, ४, १

आत्मप्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गला कर्म ।

२. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वप्रज्ञापना, गाथा, १८६

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो
त पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ॥

३. वेदान्तदर्शन, ३, २, ३८, ३६

फलमत उपपत्ते ।

श्रुतत्वाच्च ।

४. श्वेताश्वतर उप०, ६, १३

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति
कामान्

५. महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, टिप्पणी, पृ० ६८

६ पचास्तिकाय, गाथा, १२८, १३०

जो खलु संसारत्थो जीवो ततो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायते ।
ते हिं दु विसयग्गहणं ततो रागो वा दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो ससार चक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणोसणिधणो वा ॥

७ द्रव्य सग्रह, गाथा, ३८

८. तत्वार्थाधिगमसूत्राणि, अ० ६, सू० १, ३, ४

कायवाङ् मन कर्मयोग ।

शुभ पुण्यस्य ।

अशुभ पापस्य ।

६. वही, अ० ६, सू० ४

सकषायाकषाययो साम्य साम्परायिकेर्यापथयो ।

१०. वही अ० ८, सू०, २-३
सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्
पुद्‌गलानादत्ते। स बन्ध ।

११. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३३, गाथा, २, ३
नाणस्सावरणिज्जं दसणावरणं तहा।
वेयणिज्ज तहा मोह, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्म च गोयं च, अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥

१२. वही सूत्र, ४
णाणावरणं पंचविह, सुय अभिणिवोहियं।
ओहि नाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥

१३. वही, सू०, ५, ६

१४. वही, सू०, ७
वेयणीयं पिय दुविहं, सायमसायं च आहिय।

१५. वही, सू०, ८
मोहणिज्जपि दुविहं, दसणे चरणे तहा।

१०

लेश्याविश्लेषण

व्युत्पत्ति

प्राकृत मे लेश्या के स्थान मे प्रयुक्त होने वाले दो शब्द या रूप मिलते है। लेसा और लेस्सा। इन दोनो रूपो की मूल धातु लिस् है जो दो अर्थो मे प्रयुक्त होती है। सोने के अर्थ मे और श्लिष् आलिगन के अर्थ मे। कतिपय विद्वानो का कथन है कि लिस्स धातु से "लिस्सा" तथा ल की "इ" का विकार से ए बन गया और शब्द सिद्ध हो गया। टीकाकारो ने तो —

लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा
अनया-इति लेश्या"

ऐसा अर्थ किया है। अत "लिस्स" को ही "लेस्सा" का यदि मूल धातु मान लिया जाये तो उचित ही होगा।

यदि हेमचन्द्राचार्य के "प्रकृति सस्कृत, तत आगत प्राकृतम्" इस परिभाषा या सिद्धान्त को दृष्टि मे रखकर "लेश्या" शब्द से "लेस्सा" बनाना हो तो लेश्या के तालव्य "श', को दन्त्य "स" मे बदलकर, "य" का लोप तथा "स" को द्वित्व करके "लेस्सा" शब्द बन सकता है, ठीक वैसे ही जैसे वेश्या से "वेस्सा" बनता है। यदि लेश्या के पारिभाषिक अर्थ से भिन्न अर्थ, जैसे तेज या ज्योति करना हो तो चमक के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाली "लिस् धातु से लेश्या रूप को व्युत्पन्न करना होगा।

सस्कृत मे लिश् धातु से यत्-टाप् प्रत्यय करने से लेश्या रूप की सिद्धि होती है । लिश् धातु से रूप वनते हैं "लिशति" और "लिश्यति" ।

पाली मे सस्कृत का लेश्या और प्राकृत के लेसा और लेस्सा ये तीनो रूप उपलब्ध नही होते । वहाँ "लेस" शव्द का प्रयोग अवश्य मिलता है । वहा लेस के अर्थ है कण, नकली, वहाना और चालाकी । पाली–अगरेजी कोश के अनुसार "लेस" के दस भेद वताये है जो इस प्रकार है ।

जाति, नाम, गोत्र, लिग अपत्ति, पत्र, चीवर, उपाध्याय, आचार्य और सेनासन ।

लेश्या की परिभाषा

भिन्न-भिन्न आचार्यो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से लेश्या की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की है किन्तु सामान्य रूप से भावार्थ सबका प्राय एक ही है ।

अभयदेव सूरि

(क) **"कृष्णादिद्रव्यसान्निध्य—**
जनितोजीवपरिणामो-लेश्या"
भग० श०, १, उ० १ प्र० ५३ की टीका,

(ख) **आत्मनि कर्मपुद्गलानां लेशनात्-सश्लेषणात् लेश्या, योग परिणामश्चैता, योगनिरोधे लेश्यानाम् भावात् योगश्च शरीरनामकर्म-परिणतिविशेष ।**

भग०, श० १ उ० २, प्र० ९४ की टीका,

(ग) **उच्यते, लिष्यते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या ।**

पण्णवणा सुत्तं, पं० १७, प्रारभिक टीका में

अकलंक देव—

"कषायोदयरंजितायोगप्रवृत्तिलेश्या"

राज०, अ०, २, सूत्र, ६

"कषायश्लेष प्रकर्षापकर्षयुक्त योगप्रवृत्तिर्लेश्या"

राज०, अ०, ९, सूत्र, ६,

सिद्धसेन गणि,

लिश्यन्ते-इति लेश्या, मनो-योगावष्टम्भजनितपरिणाम,
आत्मना सह लिश्यते एकी भवतीत्यर्थ ।

सिद्ध० अ० २, सूत्र, ६

विद्यानन्दि

कषायोदयतो योग प्रवृत्तिरूपदर्शिता ।
लेश्या जीवस्य कृष्णादि षड्भेदाभावतोऽनघै ॥

श्लो० अ०, २, सूत्र ६

अभयदेवसूरि द्वारा उद्धृत अज्ञात-आचार्य ।

कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राय, लेश्या शब्द प्रयुज्यते[1] ॥

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न आचार्यो द्वारा की गई लेश्या की परिभाषाओ का सामान्य रूप से भावार्थ यही है कि लेश्या उसको कहते है जिसके द्वारा आत्मा कर्म से श्लिष्ट होता है ।

लेश्या विश्लेषण

भारतीय मनोवैज्ञानिको ने मन मे उत्पन्न होने वाले विचारो, विचारो के परिणामो आदि का विश्लेषण बडी गहराई मे उत्तर कर किया है । इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे प्राचीन जैनाचार्यो का योगदान वडे ही महत्व का एव उच्च कोटिका है । उन्होने प्राचीन चिन्तन के ग्रन्थ मे अपना नया सारगर्भित अध्याय जोडा है । भारत की भूमि मे मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि लेश्या का विवेचन उस अति प्राचीन काल मे आरभ हो चुका था जव आज के मनोविज्ञान का जन्म भी नही हो पाया था । लेश्या के विश्लेषण मे इस बात पर विचार किया जाता है कि मानसिक वृत्तियो का वर्ण किस प्रकार का होता है । मन मे उत्पन्न होने वाले विचारो को कितने भागो मे विभक्त किया जा सकता है ? मन मे उठने वाली विचार तरग का मूल स्रोत क्या है ?

उनमे वर्ण का अस्तित्व कैसे है ? मानसिक विचारो मे किसी न किसी प्रकार के वर्ण की सत्ता निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। इसका कारण है कि मन की चचल तरगें पुद्गलो से मिश्रित होती हैं और पुद्गलो को मूर्त माना गया है। इस प्रकार, विचार का द्रव्यरूप पुद्गलमय होना स्वाभाविक है। जैसा विचार होगा, वैसा वर्ण भी होगा और जैसा-जैसा विचार होगा वैसा वैसा पुद्गलो का आकर्षण भी रहेगा।

मन की प्रकृति के अनुसार, प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले मन के अध्यवसाय असख्य है। कभी वे सर्वथा शुभ्ररूप वाले होते है, कभी नितान्त कृष्ण-काले रूप मे व्यक्त होते है और कभी मिश्रित रूप मे। जैनागमो मे इस मानसिक, वाचिक और कायिक परिणमन को लेश्या के रूप से अभिहित किया गया है।

स्फटिक अपने स्वरूप से अत्यन्त शुभ्र, निर्मल और उज्ज्वल होता है। उसके पास जिस वर्ण का भी कोई पुष्प या कोई अन्य वस्तु रखदी जाये तो वह स्फटिक वैसे ही रग का प्रतिभासित होने लगता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी स्फटिक के समान अत्यन्त शुभ्र और निर्मल है। आत्मा के पास भी जिस वर्ण के परिणाम होगे, वह उसी वर्ण वाला प्रतिभासित होने लगेगा। सामान्य रूप से लेश्या का अर्थ मानसिक वृत्ति या विचार-तरग माना जा सकता है किन्तु जैनाचार्यो ने कर्मश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणामो को ही लेश्या माना है। मानव मन मे उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ परिणाम असख्य है। इस कारण लेश्याओ के भी असख्य प्रकार हो सकते है किन्तु मुख्य रूप से तारतम्य के आधार पर लेश्याओ को छह वर्गो मे विभक्त किया गया है। जैनागम का एक अति प्रसिद्ध उदाहरण इन छ वर्गो की तरतमता स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है।

छै व्यक्ति मिलकर जामुन-फल खाने के लिये चल दिये। जगल मे उन्होंने फलो से लदा हुआ एक जामुन का वृक्ष देखा। उनमे से एक ने कहा, "इस जामुन के वृक्ष को काट कर पृथ्वी पर गिरादो और फिर जितने चाहो फल खाओ" दूसरे ने कहा, "सारे वृक्ष को काटने की क्या आवश्यकता है। इसकी फलो वाली मोटी-मोटी शाखाओ के काटने से भी हमारा काम चल जायेगा।"

तीसरे ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा, "मोटी शाखाओ को काटने की भी क्या आवश्यकता है, छोटी-छोटी टहनियो के काट लेने से ही हमे पर्याप्त फल मिल सकते है"। चौथा ऊपर वालो से अधिक समझदार था। उसने कहा, "क्यो न केवल मात्र फलो के गुच्छो को तोड लिया जाये उनसे ही हमारी इच्छापूर्ति हो जायेगी"। पाँचवे ने कहा "अरे गुच्छो मे तो कुछ कच्चे फल भी हो सकते है, क्यो न पकी-पकी जामुने तोड कर खाले। यह अधिक उपयोगी रहेगा"। छठा उन सबसे बुद्धिमान था। उसने कहा, "जब हमने फल ही खाने है तो क्यो न नीचे गिरे हुए पके हुए फलो को बीन-बीन कर खाले। व्यर्थ मे वृक्ष को, डालियो को और गुच्छो को काटने तोडने से क्या लाभ होगा?"

छहो व्यक्तियो के सामने बात तो केवल जामुन खाने की थी किन्तु छहो व्यक्तियो के शुभ और अशुभ परिणाम पृथक्-पृथक् थे। उपर्युक्त उदाहरण से शुभ और अशुभ परिणामो के तारतम्य की अभिव्यक्ति बडे ही सुन्दर और स्पष्ट रूप मे हुई है। इसी तारतम्य के आधार पर शास्त्रकारो ने लेश्याओ का छह रूपो मे वर्गीकरण किया है—

१—कृष्णलेश्या,
२—नील लेश्या,
३—कापोत लेश्या,
४—तेजो लेश्या,
५—पद्म लेश्या,
६—शुक्ल लेश्या[2]।

कृष्ण लेश्या

भगवान् महावीर, गौतम गणधर को सम्बोधन करते हुए कहते है कि "कृष्णलेश्या" मानव की निकृष्टतम मनोवृत्ति का रूप है। कृष्णलेश्या वाले व्यक्ति के विचार अत्यन्त क्षुद्र, क्रूर, कठोर और दयारहित होते है। वह अहिसा जैसे महाव्रत से घृणा करने वाला होता है। वह बडी तीव्रता से पापाचरण करता है। वह विचारहीन, विवेक-हीन, विलासरत, इहलोक और परलोक की चिन्ता न करने वाला, अत्यन्त स्वार्थी और अपने सुख के लिये ससार मे प्रलय तक लाने की इच्छा रखा करता है[3]।

नील लेश्या

कृष्ण लेश्या वाले की अपेक्षा नीललेश्या वाले व्यक्ति की मनोवृत्ति तुलना मे अच्छी होती है। परन्तु तब भी वह ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, पापाचारी, लोलुप, केवल अपने सुख का इच्छुक, विषयी, हिंसाकर्मरत और क्षुद्र श्रेणी का जीव होता है[4]।

कापोत लेश्या

इस लेश्या वाला प्राणी मन, वचन और काय से वक्र स्वभाव वाला होता है। मिथ्यादृष्टि होने के साथ-साथ वह अपने दोपो को छिपाया करता है और परुष भाषण करने वाला भी होता है। वह चौर्य निरत और ईर्ष्यालु भी होता है[5]।

तेजोलेश्या .

इस लेश्या से सम्पन्न पुरुष पवित्र, नम्र, अचपल, दयालु, विनीत, इन्द्रियजयी, पापभीरू और आत्मसाधना की आकाँक्षा रखने वाला होता है। वह अपने सुख की चिन्ता न करता हुआ अन्य प्राणियो के प्रति उदारता की भावना रखता है[6]।

पद्म लेश्या

पद्मलेश्या वाले की मनोवृत्ति धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान मे निरन्तर लगी रहती है। जैसे कमल अपनी मुगन्धि से दूसरो को प्रसन्न करता है उसी प्रकार पद्मलेश्या वाला व्यक्ति दूसरो को सदा आनन्दित करके सुख प्राप्त करता है। वह सयम का दृढता से पालन करने वाला, कषायो को जीतने वाला, मितभाषी,जितेन्द्रिय और सौम्य स्वभाववाला होता है[7]।

शुक्ल लेश्या

इस लेश्या वाले पुरुष की मनोवृत्ति अत्यन्त निर्मल होती है। शुक्ल लेश्या वाला मानव समदर्शी, निर्विकल्प ध्यान करने वाला, शान्त अन्त करण वाला, समिति गुप्ति से सम्पन्न होता है। वह जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे सावधान होकर चलना है और अशुभ प्रवृत्तियो से सदा दूर रहता है। वह सृष्टि के प्राणीमात्र पर प्रेमामृत की वर्पा करने वाला होता है[8]।

लेश्याओ द्वारा विचारो की शुभ और अशुभ परिणति पर प्रकाश डालकर और छह लेश्याओ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करके और उनसे प्रभावित जीवो के स्वभाव का निर्देश करके शास्त्र-कारो ने कहा है कि पूर्व की तीन लेश्याएँ अशुभ परिणाम वाली होने के कारण त्याज्य है, और अन्तिम तीन लेश्याए उत्तरोत्तर शुभ परिणति की ओर प्रेरित करने के कारण उपादेय है। प्रथम तीन लेश्याए जीव को दुर्गति मे डालने वाली है और अन्तिम तीन जीव को सुगति की ओर प्रवृत्त कराने वाली कही है"। पूर्व की तीन लेश्याओ को अधर्म लेश्या के नाम से अभिहित किया गया है। शुक्ल लेश्या को तो आत्म विकास का अन्तिम चरण समझना चाहिये। यदि मानव क्षुद्र अवस्था से शुभ्रतर और शुभ्रतर से शुभ्रतम अवस्था की ओर उत्तरोत्तर बढता रहे तो उसका आत्मकल्याण रूपी लक्ष्य दूर नही रह सकता। वह शीघ्र ही अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है या यो कहना चाहिये कि जीव अपने निजी स्वरूप मे शीघ्र ही स्थित हो जाता है।

द्रव्य और भावरूप से लेश्या और कषायो का परस्परिक इतना सामजस्य स्थापित हो गया है कि दोनो को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन सा लगता है। इसका स्पष्टीकरण जैनाचायो ने इस प्रकार किया है जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध भडक उठता है, उसी प्रकार लेश्या के द्रव्य, कषायो मे उत्तेजना पैदा कर देते है। लेश्या द्वारा परिणामो को, विचारो को तथा मानसिक उद्वेगो को गन्ध, रस, स्पर्श और रग, आदि सभी प्राप्त होते है। कृष्ण लेश्या मे काजल जैसा रग होता है, नील लेश्या मे मोर की गर्दन जैसा नीला रग होता है, कापोत लेश्या मे कबूतर जैसा, तेजो लेश्या मे मनुष्य के रक्त जैसा, पद्म लेश्या मे चम्पा के फूल जैसा और शुक्ल लेश्या मे चन्द्रमा जैसा रग होता है। इसी प्रकार रसास्वाद मे भी अन्तर का होना बताया गया है। कृष्ण लेश्या का कडवी तूम्बी जैसा, नील-लेश्या का मिर्च जैसा, कापोत लेश्या वाले को अनार जैसा, तेजो लेश्या वाले को पके हुए आम जैसा, पद्म लेश्या का इक्षु रस जैसा और शुक्ल लेश्या का मिश्री जैसे रस के स्वाद का अनुभव होता है। इसी प्रकार लेश्याओ मे सुगन्ध और दुर्गन्ध की सहभावना भी पाई जाती है। प्रथम तीन

लेश्याओ के पुद्गलो का स्पर्श कर्कश बताया है और अन्तिम तीन के पुद्गलो का स्पर्श नवनीत जैसा कोमल होता है।

जैनागमो मे प्रसगानुकूल यत्रतत्र निर्दिष्ट लेश्या का स्वरूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वास्तव मे उच्च धरातल का है।

उद्धरण

१. कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्या शब्द प्रयुज्यते ।।
अज्ञाताचार्य, उद्धृत अभयदेव सूरि।

२. किण्हा नीला य काऊय, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ।।
उत्तराध्ययन, अ० ३४, गा० ३, १

३. पचासवप्पमत्तो, तीहि अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भ परिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ।।
निद्धन्धसपरिणामो, निस्ससो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाऊत्तो, किण्हलेसं तु परिणमें ।।
वही, अ० ३४, गा० २१, २२

४ इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ।।
सायगवेसए य आरम्भाओ अविरओ, खुद्दो साहसिओनरो।
एय जोग समाउत्तो नीललेस तु परिणमें ।।
वही, गा० २३, २४

५ वंके वक समायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ।।
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे याविय मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काऊलेसं तु परिणमे ।।
वही, गा, २५, २६

६ नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दन्ते, जोगव उवहाणवं ॥
पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरु हिएपए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊ लेसं तु परिणमे ॥
वही, गा०, २७, २८

७ पयणुकोहमाणे य माया लोभे य पयणुए ।
पसन्तचिते दन्तप्पा, जोगव उवहाणव ॥
तहा पयणुवाई य, उवसन्ते जिइन्दिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेस तु परिणमें ॥
वही, गा०, २९, ३०

८ अट्टरुद्दाणि वज्जिचता, धम्म सुक्काणि झायए ।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥
सरागे वीयरागे वा, उवसन्ते जिइ दिए ।
एयजोग समाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥
वही० गा०, ३१-३२

९. किण्हा नीला काऊ तिन्नि विएयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गवं उववज्जई ॥
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्न वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहिवि जीवो, सुग्गई उववज्जई ॥
वही० गा० ५६, ५७

११

दान कार

वडी पुरानी उक्ति है किसी महान् मनीपी की—

> "सग्रहैकपर प्राप्त समुद्रोऽपि रसातलम् ।
> दाता तु जलदः पश्य भुवनोपरि गर्जति ।।"

अर्थात्—दिवानिश जल के केवल सग्रह मे निरत सागर को रसा-तल-पाताल मे स्थान मिला । दूसरे शब्द मे सागर अधोगति को प्राप्त हुआ । इसके विपरीत जल ग्रहण करके उसे पृथ्वीमण्डल पर वरसा कर असख्य प्राणियो का उपकार करके बादल आकाशगामी-ऊर्ध्वगति वना और इसी महान् उत्थान के कारण वह कितने गौरव से नभोमण्डल मे गर्जन किया करता है ।

चार प्रकार के धर्मों में दान का प्रथम स्थान :

सम्भवत- इसी कारण जैन शास्त्रो मे विहित चार प्रकार के धर्मो-दान, शील, तप और भावना मे दान को प्रथम स्थान दिया गया है—

> **"दाणं सीलं च तवो भावो, एवं चउव्विहो धम्मो ।"**
> **सप्ततिशतस्थान प्रकरण, गा० ६६**

जैन शास्त्रो के विस्तृत अध्ययन एव विश्लेषण से ात होता है कि "दान की भावना" जैन धर्म की उदात्त समुज्ज्वल देन है और अपने आप मे एक असाधारण मौलिक उद्भावना है । जैन धर्म के पचम महाव्रत-अपरिग्रह-मे भी दान की भावना व्यजित होती है । "उतना ही अपने पाम रखो जो अत्यावश्यक है शेप को वितरित कर दो" मे दान की भावना स्पष्ट झलकती है । यदि अपरिग्रह का अर्थ हम—"उतना

६. नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दन्ते, जोगव उवहाणवं ॥
पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरु हिएपए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊ लेसं तु परिणमे ॥
वही, गा०, २७, २८

७. पयणुकोहमाणे य माया लोभे य पयणुए ।
पसन्तचिते दन्तप्पा, जोगव उवहाणव ॥
तहा पयणुवाई य, उवसन्ते जिइन्दिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेस तु परिणमें ॥
वही, गा०, २९, ३०

८ अट्टरुद्दाणि वज्जिता, धम्म सुक्काणि झायए ।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥
सरागे वीयरागे वा, उवसन्ते जिइ दिए ।
एयजोग समाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥
वही० गा०, ३१-३२

९. किण्हा नीला काऊ तिन्नि विएयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गव उववज्जई ॥
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्न वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहिवि जीवो, सुग्गई उववज्जई ॥
वही० गा० ५६, ५७

दसविहेणाणे पण्णत्ते त जहा—

अणुकम्पा संगहे चेव भए कालुणिएत्तिय।
लज्जाए गारवे णय अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते काही तिय कयति य।

ठाणांग, १०, ८१

अर्थात्—१ अनुकम्पादान २ सग्रहदान ३. भयदान ४ कारूणिक दान ५ लज्जादान ६. गारवदान ७. अधर्मदान ८. धर्मदान ९. करिप्यत्दान १० कृतदान। ये दस प्रकार के दान कहे गये है।

अनुकम्पादान :

वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने "अनुकम्पादान" की परिभापा करते हुए लिखा है—

**"कृपणेऽनाथ-दरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद् दानम्॥"**

श्री जैं० सि० बोल सग्रह, भा० ३, पृ० ४५०

अर्थात्—दीन, अनाथ, अतिनिर्धन, दुखी, रोगी और धनाभाव के कारण शोकग्रस्त प्राणियो को जो दान दिया जाता है वह अनुकम्पादान कहलाता है।

अनुकम्पादान का जैनागमो मे विशिष्ट स्थान है। किसी भी तीर्थंकर ने कही भी और कभी अनुकम्पादान का निषेध नही किया है। इसी बात की पुष्टि करते हुए किसी महान् जैनाचार्य ने कहा है—

**"सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं।
अणुकम्पा दाणं सड्ढयाण न कहि वि पडिसिद्ध॥**

अ० रा० को० भाग। पृ० ३६१

यहाँ यह वात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अनुकम्पा, अनुकम्पनीय व्यक्ति पर ही की जाती है। यदि दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति साधु है तो वह अनुकम्पा का पात्र नही हो सकता। साधु को भक्ति का पात्र वताया गया है—

ही सग्रह करो जितना व्यक्तिगत उपयोग के लिये अत्यावश्यक है" यह भी करे, तब भी दूसरे अर्थ का अधिगम—"शेष दूसरो मे वितरित करने के लिए या देने के लिए छोड दो" स्पष्ट होता है। "जीवन का मूल केन्द्र धन नही किन्तु सर्वोदय है" यह उच्चादर्श भी "अपरिग्रह-पचम महाव्रत मे झलकता है।"

जब तक दान की परहितकारिणी भावना भारत के जनजीवन को अनुप्राणित करती रही, तब तक साम्यवाद और समाजवाद जैसे वादो का प्रादुर्भाव सम्भव नही हो सका। हमारी धारणा है कि जब इस आर्य भूमि मे अनादिकाल से अक्षुण्ण रूप मे बहने वाली दान की निर्झरणी का प्रवाह मन्द पडने लगा और पूजीवाद या सग्रहवाद की प्रवृत्ति बढने लगी तभी उनकी प्रतिक्रया के रूप मे साम्यवाद और समाजवाद जैसे वाद अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुए। यद्यपि साम्यवाद और समाजवाद जैसी मान्यताओ के पीछे भी सर्वोदय की भावना अन्तर्निहित है किन्तु दान के द्वारा सर्वोदय मे नि स्वार्थ, निष्काम और पुण्याधारित प्रवृत्ति की प्रधानता है। साम्यवाद या समाजवाद के सर्वोदय मे राजनैतिक शक्ति की प्रधानता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य गौण है और व्यक्ति की प्रधानता है। दूसरे शब्दो मे "व्यक्तियो के द्वारा समाज या राष्ट्र का निर्माण होता है" यह मान्यता गौण है "समाज या राष्ट्र ही व्यक्ति का निर्माण करते है" यह मान्यता प्रधान है। कुछ भी हो, दान की प्रवृत्ति की उपेक्षा को और सग्रहवाद के प्रोत्साहन को यदि वर्तमान प्रगतिवाद की विचारधारा के मूल स्रोत का एक तत्व मान लिया जाय तो अनुचित न होगा।

जैनाचार्यो ने मानव को दानवता से बचाने के लिए दान की भावना को प्रोत्साहन मात्र ही नही दिया किन्तु दान की प्रगति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भगीरथ प्रयत्न भी किया। उन्होने दान की प्रक्रिया का जितना सूक्ष्म, गम्भीर एव सुन्दर विश्लेषण किया है वैसा अन्य धर्मो के धर्मग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नही होता।

ठाणांग में दान के दस प्रकार :

ठाणाग सूत्र मे दान के दस प्रकार का स्वरूप है जो पाठको के द्वारा मनन, चिन्तन और धारणा करने योग्य है।

दसविहेणाणे पण्णत्ते त जहा—

अणुकम्पा संगहे चेव भए कालुणिएत्तिय।
लज्जाए गारवे णय अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते काही तिय कयंति य।

ठाणांग, १०, ८१

अर्थात्—१ अनुकम्पादान २. सग्रहदान ३ भयदान ४ कारूणिक दान ५ लज्जादान ६. गारवदान ७. अधर्मदान ८ धर्मदान ६. करिष्यत्दान १० कृतदान। ये दस प्रकार के दान कहे गये है।

अनुकम्पादान :

वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने "अनुकम्पादान" की परिभापा करते हुए लिखा है—

"कृपणेऽनाथ-दरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद् दानम्॥"

श्री जै० सि० बोल सग्रह, भा० ३, पृ० ४५०

अर्थात्—दीन, अनाथ, अतिनिर्धन, दुखी, रोगी और धनाभाव के कारण शोकग्रस्त प्राणियो को जो दान दिया जाता है वह अनुकम्पादान कहलाता है।

अनुकम्पादान का जैनागमो मे विशिष्ट स्थान है। किसी भी तीर्थकर ने कही भी और कभी अनुकम्पादान का निषेध नही किया है। इसी बात की पुष्टि करते हुए किसी महान् जैनाचार्य ने कहा है—

"सव्वेहि पि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं।
अणुकम्पा दाणं सड्ढयाण न कहिं वि पडिसिद्ध॥

अ० रा० को० भाग। पृ० ३६१

यहाँ यह वात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अनुकम्पा, अनुकम्पनीय व्यक्ति पर ही की जाती है। यदि दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति साधु है तो वह अनुकम्पा का पात्र नही हो सकता। साधु को भक्ति का पात्र वताया गया है—

"अनुकम्पाऽनुकम्पये स्याद्, भक्ति पात्रे तु सगता ।"

वही, १, पृ० ३६०

संग्रहदान .

सग्रहदान की व्याख्या करते हुए लिखा है

"अभ्युदये व्यसने वा यत्किञ्चिद्दीयते सहायतार्थम् ।
तत्सग्रहोऽभिमतं, मुनिभिर्दान न मोक्षाय ॥

जै० सि० बोल संग्रह, भा० ३, पृ० ४५१

अर्थात्—अभ्युदय-किसी पद, स्थान या आजीविका के निमित्त, रिश्वत के लिए एव व्यसन-किसी राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक या आर्थिक अपराध के दण्ड से मुक्ति पाने के लिए जो दान दिया जाता है, वह सग्रहदान है ।

अनुकम्पादान मे निस्सन्देह परहित की भावना थी किन्तु सग्रहदान मे उसका अभाव है । इस दान मे स्वार्थ की भावना के प्राधान्य के कारण इसे मोक्ष का हेतु नही माना है ।

भयदान :

"राजारक्षपुरोहितमधुमु ाविल्ल दण्डपाशिपु च ।
यद्दीयते भयार्थात्तद् भयदानं बुधैर्ज्ञेयम् ॥

वही, पृ० ४५१

अर्थात्—राजा, राक्षसी वृत्ति के लोग, पुरोहित, वाणी से मीठे और मन के काले व्यक्ति, माया रचने वाले और दण्डित करने वाले पुरुषो के भय से बचने के लिए जो दान दिया जाता है, वह भयदान कहलाता है ।

इस दान की आधारशिला भी आत्म रक्षा है इस कारण इसे भी मध्यम कोटि के दान मे रखना होगा ।

कारुण्य दान :

पुत्र और अन्य अतिप्रिय किसी सगे-सम्बन्धी के वियोग से उत्पन्न होने वाला शोक कारूण्य मे परिवर्तित हो जाता है । वियुक्त प्राणी

की पारलौकिक कुशल कामना के लिए जो दान दिया जाता है, वह कारुण्यदान कहलाता है।

कारुण्यदान की इस भावना मे भी कुछ-कुछ परकल्याण निहित है, इस कारण इसे भी मध्यम कोटि का दान कहा जा सकता है।

लज्जा दान :

"अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद् भवेद्दानम्॥"

अर्थात्—जब व्यक्ति जनसमूह के मध्य बैठा हो और उस समय कोई कारणवश दान मागने वाला आ जाये, तब जनसमूह की लज्जा के कारण या उनकी दृष्टि मे अपनी लाज रखने के लिए जो दान दिया जाता है, वह लज्जादान कहलाता है। लज्जादान मे दानपात्र के प्रति लगाव का अभाव है, देने का कारण लज्जा है, जिसका आधार स्वार्थ है। इसलिए लज्जादान भी भयदान के समान ही मध्यम कोटि मे ही आयेगा।

गारव दान .

"नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दान सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्य।
यद्दीयते यशोर्थं गर्वेण तु तद् भवेद्दानम्॥"

वही, पृ० ४५२

अर्थात्—नट बाजीगर, नृत्य करने वाले, पहलवान अपने सगे-सम्बन्धी या मित्रो को स्वय के लिए यश की उपलब्धि के निमित्त अहकारपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे गारवदान कहते है।

गारवदान का आधार यशोलिप्सा और अहकार दोनो है। इसे भी निम्नकोटि के मध्यम दानो मे ही रखना उचित होगा।

अधर्मदान :

जो दान अधर्म का कारण बनता हो वह अधर्मदान है। अधर्मदान के मार्ग है :

"हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्य।
यद्दीयते हि तेषां तज्जानीयादधर्माय॥"

सक्षेप मे पाँच महापापो मे प्रवृत्त कराने वाला दान अधर्मदान है। ऐसा दान जिसके देने से कोई प्राणी हिंसा मे, असत्य भाषण मे, चौर्यकर्म मे, परदारगमन मे और परिग्रह मे प्रवृत्त होता हो, अधर्मदान के नाम से अभिहित किया जाता है।

पाँच महापापो के सम्मुख करने वाले इस दान की गणना अधर्म-कोटि के दानो मे ही करना सगत होगा।

धर्मदान :

जो दान धर्म का कारणभूत हो, वह धर्मदान कहलाता है। जैसे—

"समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्य ।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दान भवति धर्माय ॥"

वही, पृ० ४५२

अर्थात्—जिन प्राणियो की दृष्टि तृण, मणि और मोती मे एक समान रहती है, ऐसे सुपात्रो को दिया जाने वाला दान धर्मदान के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार के दान की महिमा कभी क्षय नही होती। उसकी तुलना किसी अन्य दान से नही की जा सकती वह अनुपम है, और अनन्त सुख का प्रदान करने वाला है।

इस दान को सब दानो मे उत्तम मानना चाहिए क्योकि यह सुपात्र मे दान की प्रवृति कराकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है।

सुपात्रदान का महत्त्व .

सुपात्र—दान का माहात्म्य जैन ग्रन्थो मे बहुत विस्तार से वर्णित है। यहाँ तक लिखा है कि तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव और मण्डलिको का जन्म सत्पात्र मे दान के परिणामस्वरूप ही होता है।

"तित्थयरचक्कवट्टी बलदेव वासुदेव मण्डलिया।
जायति जगब्भहिया सुपत्तदाणपभावेण ॥"

अ०रा०को० भाग ४, पृ० २४८६

इसके अतिरिक्त—

"काले देशे कल्प्य श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च ।
सत्कृत्य च दातव्यं, दानं प्रयतात्मना सद्भ्यः ॥

अर्थात्—सत्पात्र मे दान देश काल को ध्यान मे रखते हुए सुपात्र का भली भाँति सत्कार करके महती श्रद्धा, पवित्र मन और सयन आत्मा से दिया जाता है ।

इस प्रकार उत्तम, निर्मल हृदय, सयत आत्मा और विनम्र आदि अनेक गुणो से युक्त सत्पात्र मे दिया गया स्वल्प दान भी उसी प्रकार फलीभूत होता है जिस प्रकार वट वृक्ष का अत्यन्त छोटा सा वीज एक विशाल वट को जन्म देता है । इस भाव को कितने सुन्दर शव्दो मे किसी जैनाचार्य ने कहा है—

"दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन ।
वटकणिकेव महन्त न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥

वही, पृ० २४६

टीका ग्रन्थो मे सत्पात्र-दान की महिमा को और भी चार चाँद लगाते हुए वर्णित किया है ।

"दु.खसमुद्र प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन ।
लघुतेव मकरनिलय, वणिजः सद्यानपात्रेण ॥"

आचारांगटीका

अर्थात्—वुद्धिमान लोग सत्पात्र मे दान देकर ससार के दु ख रूपी समुद्र को ठीक वैसे ही पार कर जाते है जैसे सुदृढ और सुनिर्मित जलयान के द्वारा व्यापारी लोग वडी ही सरलता से समुद्रको पार कर जाते हैं ।

करिष्यत् दान ·

जिसको मैं आज दान कर रहा हूँ वह इसके बदले मे भविष्य मे मेरा प्रत्युपकार करेगा । इस भावना से किया गया दान करिष्यत् दान कहलाता है ।

इस दान के पीछे भी स्वार्थ की भावना निहित है इस कारण यह दान भी उच्च कोटि का नही माना जायेगा ।

कृतदान

कृतदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है

"शतश कृतोपकारो दत्त च सहस्रशो ममानेन ।
अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानम् ॥"

अर्थात्—इस व्यक्ति ने मेरा सैकडो वार उपकार किया है और हजारो की राशि यह भूतकाल मे मुझे दे चुका है, इसके उपकार के बदले का चुकाने के लिए मै भी इसे दान के रूप मे कुछ देता हूँ। इस भावना से जो दान दिया जाता है इसे कृतदान कहते है।

कृतदान मे कृतज्ञता एव सद्भावना की प्रवृत्ति होने के कारण इसे उत्तम कोटि का तो नही किन्तु मध्यम कोटि का दान कहा जा सकता है।

ठाणाग सूत्र के इन दस प्रकार के दानो को हम निम्नलिखित तीन भागो मे विभक्त कर सकते है।

१ उतम दान .—धर्मदान अनुकम्पादान ।
२ मध्यम दान —कारुण्यदान, कृतदान,
सग्रहदान, भय दान, लज्जादान,
गारव दान, और करिष्यत् दान ।

३ अधम दान —अधर्मदान

वैष्णय सहित्य मे भी दान का अनेक रूपो मे विभाजन है किन्तु वह इतना विस्तृत, सूक्ष्म और भावपूर्ण नही है जितना जैन साहित्य मे मिलता है। भगवद् गीता मे सात्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकार के दानो का उल्लेख है। इन तीनो पर ठाणाग के दशविध दानो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ठाणाग अगप्रविष्ट सूत्र होने के कारण गीता से प्राचीन है अतएव उसका उत्तरकालीन साहित्य पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

गीता के अनुसार सात्विक दान का स्वरूप है·

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विक स्मृतम् ॥"
गीता, १७, २०

अर्थात्—"दान तो देना चाहिए" इस भावना से देश काल के अनुसार जिस देश काल मे जिस वस्तु का अभाव हो, वहाँ प्राणियो की रक्षा के लिए किसी वस्तु को पहुँचाना अपने प्रति किसी भी प्रकार का उपकार न करने वाले सत्पात्र को भी दान देना सात्विक दान कहलाता है।

इस सात्विक दान पर ठाणाग सूत्र के धर्म दान और अनुकम्पा दान का प्रभाव परिलक्षित होता है।

राजस दान का लक्षण करते हुए गीता मे लिखा है

"यत्तुप्रत्युपकाराय फलमुद्दिश्य वा पुन ।
दीयते च परिक्लिष्ट तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥"

वही, श्लोक, २१

अर्थात्—जो दान क्लेश पूर्वक वर्तमान युग मे चन्दा चिट्ठा आदि मे दिया जाने वाला दान क्लेशपूर्वक दान ही होता है दिया जाये अथवा प्रत्युपकार के प्रयोजन से जो दान दिया जाय अर्थात् सासारिक कार्य की सिद्धि के लिए फल, मान बडाई, प्रतिष्ठा, स्वर्ग प्राप्ति एव रोगनिवृत्ति के उद्देश्य से दिया जाय वह दान राजस दान कहा जाता है।

गीता के राजस दान पर ठाणांग की छाप .

गीता के राजस दान पर ठाणाग के लज्जादान, गारव दान और करिष्यत् दान की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

तामस दान का स्वरूप गीता मे निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया गया है।

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञात तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

वही, श्लोक, २२

अर्थात्—जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक देश काल का विचार किये बिना कुपात्रो-हिंसक, असत्यवादी चोर, व्यभिचारी, मद्यमासादिरतो को दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

गीता के उक्त तामस दान पर ठाणाग के अधर्मदान का प्रभाव स्पष्ट व्यञ्जित होता है।

इस प्रकार श्रमण सस्कृति की दान भावना ने वैदिक सस्कृति की दान भावना को किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रभावित किया है। इस सत्य की कदापि उपेक्षा नही की जा सकती।

प्रभावित करने के अतिरिक्त श्रमण सस्कृति के दान का अपना पृथक वैशिष्ट्य भी है। वैदिक सस्कृति मे दान देने का अधिकार तो क्षत्रिय और वैश्य वर्गो को है किन्तु दान लेने का अधिकार प्राय ब्राह्मण जाति को ही है। शूद्र की तो द्विजातियो मे गणना ही नही की जाती थी। मनुमहाराज ने जहाँ चार वर्णो के भिन्न-भिन्न व्यवसायो का मनु स्मृति मे उल्लेख किया है वहाँ दान लेने का विधान ब्राह्मण के हिस्से मे ही आया है

"अध्यापनमध्ययन यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मन.॥"

मनुस्मृति, १०, ७५

अर्थात्—पठन, पाठन, यज्ञ करना, और कराना दान लेना और प्रतिग्रह ये छै कर्म ब्राह्मण के लिये निश्चित है।

पात्र की सुपात्रता

श्रमण सस्कृति मे इसके ठीक विपरीत दान देते समय केवल पात्र की सुपात्रता को ध्यान मे रखा जाता है। पात्र की सुपात्रता उसके गुणो से निर्णित की जाती है। वह किस जाति, वर्ण या रग का है इसका कोई महत्व वहाँ नही है। जैन ग्रन्थ "दर्शन-शुद्धि" नामक ग्रन्थ के तीसरे तत्व मे इस मान्यता की निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्ति हुई है।

"जे वा जाइनाइपक्खवाएण साहूण दाणाइसु पयट्टति न गुणाऽगुणचिताए ते वि विपज्जासभायण। तम्हा गुणा पूयणिज्जा ।"

जैनागमो मे तो यहाँ तक कहा गया है कि दाता और गृहीता-दोनो, चाहे वे किसी भी जाति के क्यो न हो, यदि नि स्वार्थ भाव से देते और लेते है तो सुगति को प्राप्त होते है। दशवैकालिक सूत्र मे इस सत्य की अभिव्यक्ति इन शब्दो मे हुई है—

दुल्लहा हु मुहादायी मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादायी मुहाजीवी दो वि गच्छति सोग्गई ॥

इस प्रकार जैनागमो मे वर्णित दान के प्रकार, दान का माहात्म्य और दान की उपादेयता अत्यन्त सारगर्भित और प्रशस्त ह। युग युगान्तर के जैनाचार्यो ने नि स्वार्थ एव निष्काम दान की भावना का प्रसार एव प्रचार करके न केवल जैनेतर सस्कृतियो को सामान्य रूप से ही प्रभावित किया है अपितु उन पर अपनी अमिट छाप भी रख छोडी है। जैनाचार्यो ने दान की भावना पर इतना लिखा है कि एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है। उपर्युक्त दान का विश्लेपण तो मात्र दान पर सिहावलोकन है।

१२

सृष्टिसर्जन

मैक्समूलर की सास्कृतिक विचार धारा :

पश्चिम के प्रकाण्ड विद्वान प्रोफेसर मैक्समूलर ने भारतीय सस्कृति की प्रशसा करते हुए लिखा है —

',यदि मुझ से पूछा जाये कि किस देश मे मानव मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियो को विकसित किया, जीवन के बडे बडे प्रश्नो पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूढ निकाले जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालो का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये, तो मै भारवर्ष की ही ओर सकेत करूगा।

यदि मै अपने आपसे पूछू-किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमेटिक, यूनानी और केवल रोमन विचार-धारा मे बहते हुए यूरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेगे-जो जीवन इस लोक से ही सम्बद्ध न हो, अपितु शाश्वत एव दिव्य हो, तो मैं फिर भारवर्ष की ही ओर सकेत करूगा।"

सन् १८५८ मे महाराणी विक्टोरिया को भेजे गये पत्र से

जैन संस्कृति उसकी प्रतीक :

इस कथन मे मैक्समूलर ने जिस भारतीय सस्कृति की विचार धारा की ओर सकेत किया है, वह जैन सस्कृति पर अक्षरश घटित होती है। श्रमण सस्कृति के महामानवो, आचार्यो, महर्षियो और तत्त्व चिंतको ने जीवन के मौलिक प्रश्नो, समस्याओ और जटिलतम जीवन के रहस्यो का जो चिन्तन मनन किया और अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा जो उनका वैज्ञानिक समाधान खोज निकाला है वह

वास्तव मे आश्चर्य चकित करने वाला है। उदाहरण के लिये सृष्टि के मौलिक सर्जन पर की गई चिन्तनधारा को ही हम लेते हैं। सृष्टि का निर्माण कब हुआ, कैसे हुआ, क्यो, हुआ, किसने किया, किसलिये किया, या किसी ने नही किया, अपने आप हो गया, अपने आप हुआ तो कैसे हुआ किस प्रयोजन से हुआ इत्यादि-इत्यादि। ऐसे अनेक प्रश्न चिन्तको के सामने आये। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" जैसा जिसकी समझ मे आया व्यक्त कर दिया। व्यक्त करने वालो को क्या पता था कि भविष्य मे तर्क का, समीक्षा का और विज्ञान का ऐसा युग भी आयेगा जब प्रत्येक समाधान को तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसे बिना प्रामाणिक नही समझा जायेगा। सृष्टि-उत्पत्ति का सिद्धान्त दर्शन शास्त्र का बडा जटिल प्रश्न रहा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने अपनी अपनी प्रतिभा के बल पर इसका समाधान खोजने का भरसक प्रयत्न किया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार, जगत तो है ही नही। जगत के होने का ज्ञान तो मिथ्या है, माया है, भ्रान्ति है। वास्तव मे तो सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। वही ऊपर है, वही नीचे है वही पीछे है, वही सामने है, वही दक्षिण की ओर है वही उत्तर की ओर है। यही नही बल्कि वही सब कुछ है —

"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स।
पुरस्तात् स दक्षिणत स उत्तरत स एवेदं सर्वमिति।"

छान्दोग्य उपनिषद्, ७, २५

गीता मे भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है

"मत्त परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय"

गीता, ७, ७

"सर्व खल्विद ब्रह्म" यह सब ससार ब्रह्म है, नेह नानास्ति किंचन", उसके अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नही है। जो कुछ दृश्यमान है, वह सब मायामात्र है .

"मायामात्रं तु कात्स्न्येन"

ब्रह्मसूत्रम्, ३, २, ३

आज के विज्ञानिक युग मे इस मस्तिष्क के व्यायाम के समाधान को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। नाना नामरूपात्मक विश्व को

हम प्रतिक्षण इन्द्रियो द्वारा अनुभव कर रहे है, देख रहे है, प्रत्यक्षरूप मे उसकी विचित्रताएँ विशेषताएँ और समताएँ दृष्टिगोचर हो रही है, फिर भी हम यह कह दे कि यहाँ तो कुछ भी नही है, सब माया है, यह अपने आपको धोखे मे रखने वाली बात नही तो और क्या है ?

विवादास्पद प्रश्न

वास्तव मे सृष्टि के पूर्व क्या था, यह विद्वानो के लिये बडे ही सिरदर्द का विषय रहा है तभी तो महात्मा बुद्ध से जब यह प्रश्न पूछा गया कि सृष्टि के पूर्व क्या था तो उन्होने उत्तर दिया कि यह प्रश्न "अव्याकृत" है—अर्थात्—इसका कुछ निर्णय करना सभव नही है। बुद्ध की स्पष्टवादिता वास्तव मे प्रशसनीय है। जो बात उनकी समझ मे नही आई उस पर उन्होने अपना मत स्पष्ट प्रकट कर दिया।

अनेक मान्यताएँ .

ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि के मन मे भी विश्व का मूल कारण और विश्व की उत्पत्ति को जानने के लिये इसी कार का कौतूहलपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुआ था। जब उनकी समझ मे कुछ नही आया तब उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा—

"है कोई इस सत्य को जानने वाला ? यदि है तो मुझे बताये कि इस सृष्टि का निर्माण किस प्रकार हुआ।"

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था विभर्ति।

ऋग्वेद, १, १६४, ४

आगे चलकर ऋषि कहते है

"न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्य सन्नद्धो मनसा चरामि।

वही, १, १६४, ३७

अर्थात्—मुझे इस रहस्य का कुछ भी तो पता नही चल रहा है। मैं इसके समाधान के लिये इधर-उधर भटकता फिर रहा हू।

बहुत चिन्तन के पश्चात् ऋषि इस निर्णय पर पहुँचा

"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"

वही, १६४, ४६

अर्थात् सृष्टि के पूर्व एक सत् था, उमी को विद्वानो ने अनेक रूपो मे वर्णन किया है।

दीर्घतमा ऋपि अपनी चिन्तनधारा मे और आगे वढे और इस निर्णय पर पहुँचे कि उनकी पूर्व धारण ठीक नही थी। वास्तव मे

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।

ऋग्वेद, १०, १२६, १

सृष्टि के पूर्व न तो सत् ही या और असत् ही।

एक दूसरे ऋपि ने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा

असद् वा इदमग्र आसीत् ततो सदजायत।

तैत्तिरीय उप० २, ७

पहले असत् था, उससे सत् की उत्पत्ति हुई। तीसरे ने कहा "मृत्युनेवेदमावृतमासीत्" अर्थात्—सृष्टि के पूर्व सत् और असत् दोनो नही थे यहा तो केवल मात्र मृत्यु का ही साम्राज्य था। चौथे ने कहा कि—

असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्।
तत् समभवत तदाण्डं निरवर्तत॥

छान्दोग्य उप० ३, १९, १

अर्थात्—असत् से तो सत् पैदा हुआ और वह अण्डा बन गया उस अण्डे से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

छान्दोग्य उपषिद् के एक और ऋषि और भी अधिक तर्क बुद्धि वाले थे। उन्होने दृढता से कहा "असत्—अर्थात् किसी भी तत्त्व का अभाव—उससे सत्—अर्थात् अस्तित्व धर्म वाले पदार्थ की उत्पत्ति कैसे सभव हो सकती है ?

सृष्टि—सर्जन सम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्यो की जैनदर्शन मे बडे विस्तार से चर्चा की गई है जिसका उल्लेख लेख विस्तारभय से यहाँ सभव नही है। तो भी इतना हम अवश्य कहेगे कि उपर्युक्त कल्पनाओ के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नही है। जैनाचार्य सत्, तत्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ और तत्त्वार्थ शब्दो का एक ही अर्थ मानते है। जैन दर्शन

मे उन सभी का प्रयोग एक ही अर्थ मे मिलता है। अन्य दर्शनो मे ऐसा नही है। वैशेषिक दर्शन मे द्रव्यादि छै को तो पदार्थ कहा है किन्तु अर्थ सज्ञा, द्रव्य, गुण, कर्म, इन तीन को ही दी गई है। सत्ता के समवाय सम्बन्ध के कारण, द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनो को सत् के नाम से अभिहित किया गया है। न्यायसूत्र मे सोलह तत्वो को सत् के नाम से पुकारा गया है। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष इन दोनो को तत्व मानता है।

जैन दर्शन मे तत्व और सत् एकार्थवाची है। द्रव्य और सत् भी एक ही है।

सत् द्रव्य लक्षणम्

द्रव्य का लक्षण करते हुए उमास्वाति कहते है कि द्रव्य का लक्षण सत् है, जो सत् है वही तो द्रव्य है। जो द्रव्य है वह निश्चित रूप से सत् है। सत् और द्रव्य तादात्म्य सम्बन्ध वाले है। जो कुछ है वह सत् अवश्य है। जो सत् नही है उसका अस्तित्व कैसे सभव होगा ? जो असत् है वह भी तो असत् रूप से सत् है। सक्षेप मे असत् ही सत् हो सकता है क्योकि असत्, सत् का निषेध है। सर्वथा असत् को तो कल्पना भी सभव नही है। जो कल्पनातीत है उसका असत् रूप से भी बोध कैसे होगा ? इसलिये उमास्वाति ने ठीक ही कहा है।

सर्वमेक सदविशेषात्

—तत्वार्थ भाष्य, १, ३५

कि जो कुछ है, सब सत् है, सब एक है।

सत् का लक्षण करते हुए उमास्वाति कहते है।

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"

—तत्वार्थ सूत्र, ५, २९

कि सत् उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य धर्मो से युक्त होता है। आगे चलकर उन्होने द्रव्य को गुण पर्याय वाला भी बताया है।

गुणपर्यायवत् द्रव्यम्

वही, ५, २९

उत्पाद और व्यय के लिये पर्याय शब्द का प्रयोग किया है और ध्रौव्य के लिये गुण का। उत्पाद और व्यय परिवर्तन की ओर सकेत करते है और ध्रौव्य नित्यता की सूचना देता है। द्रव्य मे गुण की सत्ता द्रव्य की नित्यता का प्रतीक है और "पर्याय" द्रव्य की परिवर्तनशीलता को वताता है। किसी भी वस्तु के उत्पाद और व्यय के समय, वस्तु सर्वथा नष्ट नही होती। वस्तु का पूर्वरूप परिवर्तन "विनाश" कहलाता है और उसका उत्तर का रूप "उत्पत्ति" माना जाता है। मूलभूत वस्तु मे स्थिरता या नित्यता रहती है। उदाहरण के लिये सुवर्णपिण्ड का "विनाश" व्यय हुआ। सुवर्ण ककण की "उत्पत्ति" हुई किन्तु सुवर्ण पदार्थ दोनो स्थितियो मे ज्यो का त्यो बना रहा। सुवर्ण के ज्यो का त्यो वने रहने की स्थिरता को ही नित्यता कहते है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार ससार के सभी पदार्थ एकान्त रूप से नित्य या अनत्यि नही माने गये है। वे कथचित नित्य है और कथचित् अनित्य है। गुण की दृष्टि से वे नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। अनेक पदार्थो के पिण्ड से निर्मित यह सारी सृष्टि भी पर्याय के रूप मे उत्पन्न और नष्ट होती रहती है किन्तु मूल द्रव्यो की नित्यता के कारण, यह सृष्टि अनादि काल से प्रवाह के रूप मे ऐसे ही चली आ रही है और ऐसे ही चलती रहेगी। यह सृष्टि अनादि है, अनन्त है।

जैन दर्शन की मान्यता .

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार, यह दृश्यमान जड चेतन का मिश्रण-जगत सामान्य रूप से नित्य है और विशेष रूप से अनित्य है। जड और चेतन पदार्थो मे पारस्परिक सम्बन्ध से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की परिस्थितियो के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन या रूपान्तर होते रहते है। जडके सम्पर्क से जडचेतन मे रूपान्तर प्रत्यक्ष देखने मे आता है। इस परिवर्तन के सद्भाव मे भी वस्तु की मूल सत्ता मे परिवर्तन नही होता, वह तो ज्यो की त्यो बनी रहती है। जड और चेतन के मेल से वनी हुई यह सृष्टि अनादिकाल से ऐसे ही चली आ रही है।

सत् का कभी शून्य रूप मे परिवर्तन नही हो सकता न ही शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव सभव है। आचार्य उमास्वाति द्वारा

प्रतिपादित पदार्थ की उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया के पीछे कोई दैवी शक्ति काम नही करती, यह सारी प्रक्रिया नैसर्गिक है। इस प्रकार सृष्टि का न कभी किसी ईश्वरीय शक्ति के द्वारा सर्जन ही होता है और न ही महाप्रलय। जैन दर्शन की इस सृष्टि-सर्जन-विपयक मान्यता मे वैज्ञानिकता है। इसकी तुलना मे यह कहना कि सृष्टि के पूर्व सत् था, तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता क्योकि यदि सन् था तो सृष्टि के नये सिरे की कल्पना सारहीन प्रतीत होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति होना तो सर्वथा असंभव बात है।

इतर भारतीय धर्म और सृष्टि सर्जन

अधिकतर भारतीय धर्म-ग्रन्थकारो ने ईश्वर को सृष्टि का उत्पादक, पालक और सहारकारी बताया है।

मनुमहाराज का कथन है।

एषः सर्वाणि भूतानि पंचभिर्व्याप्य मूर्तिभि।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्य ससारयति चक्रवत्॥

—मनु०, १२, १२४

अर्थात्—ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियो को पञ्चभूतरूपी मूर्तियो के द्वारा व्याप्त किये हुए है, तथा जन्म, वृद्धि और क्षय द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियो को चक्र की तरह घुमा रहा है।" महर्षि वेदव्यासजी भी इसी मान्यता का समर्थन करते हुए कहते है।

जन्माद्यस्य यतः

—ब्रह्मसूत्र, १, २

अर्थात्—"इस ससार की उत्पत्ति, स्थिति और सहार जो करने वाला है, वही ईश्वर है।" महाभारत मे भी इसी सत्य की पुष्टि की गई है।

ऋषय पितरो देवा महाभूतानि धातव।
जङ्गमाजगमंचेद जगन्नारायणोद्भवम्॥

—अनुशासन पर्व, १४९, १३८

"समस्त ऋषिगण, पितृगण देवगण और अन्याय प्राणि वर्ग, तथा

समस्त प्रकृतियाँ यह सम्पूर्ण जड-चेतनात्मक जगत, नारायण से ही उत्पन्न हुआ है।" गीता मे भी इसी मान्यता का समर्थन करते हुए लिखा है —

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

गीता, १८, ६१

अर्थात्—हे अर्जुन! शरीर रूपी यन्त्र मे आरुढ हुए, सम्पूर्ण प्राणियो को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से भ्रमण कराता हुआ, सब प्राणियो के हृदय मे स्थित है।

ईश्वर नाम की महान् शक्ति ही सृष्टि को उत्पन्न करती है और अन्त मे अपने मे ही समेट लेती है। उदाहरण द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भागवत पुराण मे लिखा है—

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वर.॥

—भागवत पु० ११, ९, २१

अर्थात्—जिस प्रकार मकडी अपने पेट मे से मुख द्वारा तन्तुओ को निकाल कर उनको फैलाती है और उनके साथ विहार करके उसे पुन निगल जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा जगत की रचना करके तथा उसमे विहार करके पुन अपने मे उसे लीन कर लेता है।

वैष्णव धर्म ग्रन्थो के उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर नाम की ही एक अद्वितीय शक्ति सृष्टि की उत्पत्ति, नियन्त्रण एव सहार की मूल कारण है। सृष्टि के मूल कारण के अतिरिक्त, यह ईश्वरीय शक्ति, जब सृष्टि मे पाप की वृद्धि होने लगती है तब पापियो के सहार के लिये अवतार के रूप मे सृष्टि पर अवतरित होती है। वाल्मीकीय रामायण मे उल्लेख है कि जब महर्षि और देवता रावण के उपद्रवो से दुखी हो गये तो वे मिलकर ब्रह्माजी के पास गये और दु ख निवारण की प्रार्थना की। भगवान् विष्णु तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये और उनके सकट को हरने के लिये, दशरथ जी के घर मे मनुष्य रूप मे अवतार लेने का उनको वचन देते हुए कहा —

हत्वा क्रूर दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।।
वत्स्यामि मानुषे रूपे पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

अर्थात्—देवताओ और ऋषियो के भय देने वाले उस क्रूर एव दुर्धर्ष राक्षस का नाश करके, मैं ग्यारह हजार वर्षों तक, पृथ्वी का पालन करता हुआ मनुष्य लोक मे निवास करूगा ।

वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड १५, २९, ३०

मैं कौन हूँ, ब्रह्मा ने कहा—

सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देव कृष्ण·प्रजापति ।
—वही, युद्धकाण्ड, ११९, १३, २७-२८

अर्थात्—सीता साक्षात् लक्ष्मी का अवतार है और आप विष्णु के अवतार हे ।

वधार्थ रावणस्येह प्रविष्टो मानुषी तनुम् ।

रावण का वध करने के लिये आप मनुष्य की देह धारण कर रहे है ।

तार्किक विश्लेषण और श्रमण सस्कृति की वैज्ञानिक मान्यता

उपर्युक्त उद्धरणो का यदि तार्किक विश्लेषण किया जाये तो श्रमण-सस्कृति की सृष्टि-सर्जन की वैज्ञानिक मान्यता के आगे वे शिथिल पड जाते है । जैन दर्शन सृष्टि को अनादि और अनन्त मानता है । उसका विश्वास है कि यह सृष्टि न तो किसी समय-विशेष मे बन कर तैयार हुई थी और न ही किसी विशेष समय मे इसका पूर्ण सहार ही होगा । पदार्थों के रूपो मे परिवर्तन होता रहता है, किन्तु मूल रूप मे पदार्थ नष्ट नही होते । पदार्थो की परिवर्तनशीलता के कारण सृष्टि के रूप मे परिवर्तन होता रहता है । समुद्र के स्थान पर मरुस्थल और मरुस्थल के स्थान पर समुद्र बनते रहते है । उजडे हुए स्थानो पर नगर बसते रहते है, और वसे हुए नगर उजडते रहते है । इस प्रकार की एकदेशीय प्रलय, समय-समय पर होती रहती है किन्तु सर्वथा बीज-नाश वाली महाप्रलय कभी नहीं होती, जिसके पश्चात् पूर्णरूप से

ही नये सिरे से सृष्टि के निर्माण की कल्पना करनी पड़े। सृष्टि का पूर्ण रूपेण बीज नाश हो जाता है और फिर नये सिरे से, ईश्वर इनकी रचना करता है, यह बात मस्तिष्क मे बैठती नही। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर —

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष ईश्वर।"
—योग०, १, २४

अर्थात्—कलेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, कर्म, पाप-पुण्य, कर्मफल, जाति, आयु, भोग तथा वासनाओ से रहित होता है ईश्वर। इसके अतिरिक्त।

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।"
—वही, १, २५

अर्थात्—ईश्वर सर्वज्ञ है।

जिस ईश्वर मे राग और कर्म का अभाव है, वह अपनी माया द्वारा ससार के जीवो को यन्त्र के समान ससार मे क्यो घुमा रहा है, यह बात बुद्धि की कसौटी पर खरी नही उतरती। फिर वह तो सर्वज्ञ भी है, जो सर्वज्ञ होता है, वह पूर्ण होता है, पूर्ण वही होता है, जिसमे किसी भी प्रकार की इच्छा की सत्ता नही होती, इच्छा के बिना ईश्वर नाम की शक्ति ने सृष्टि को कैसे उत्पन्न किया, यह बात भी ठीक नही जचती। दुष्टो के सहार के लिये और सज्जनात्माओ के कल्याण के लिये भगवान् को सृष्टि मे अवतार के रूप मे आना पडता है, यह कल्पना भी कल्पना ही प्रतीत होती है। विष्णु पुराण मे ईश्वर को

सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च,
समस्तशक्ति परमेश्वराख्यः।
—विष्णु पुराण, ६, ५, ८६

अर्थात्—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सब कुछ जानने वाला, सब प्रकार की महान् शक्ति से सम्पन्न बताया गया है।

जो ईश्वर सर्वज्ञ—या सब कुछ जानने वाला है, उसको निमन्त्रण देने के लिये ऋषियो और देवताओ को ब्रह्मा के पास जाने की क्या आवश्यकता थी? उसको तो स्वय ज्ञान होना चाहिये कि मृत्युलोक

हत्वा क्रूर दुराधर्ष देवर्षीणा भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥
वत्स्यामि मानुषे रूपे पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

अर्थात्—देवताओ और ऋपियो के भय देने वाले उस क्रूर एव दुर्धर्ष राक्षस का नाश करके, मैं ग्यारह हजार वर्षों तक, पृथ्वी का पालन करता हुआ मनुष्य लोक मे निवास करूगा ।

वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड १५, २९, ३०

मैं कौन हूँ, ब्रह्मा ने कहा—

सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देव कृष्णःप्रजापति ।
—वही, युद्धकाण्ड, ११९, १३, २७-२८

अर्थात्—सीता साक्षात् लक्ष्मी का अवतार है और आप विष्णु के अवतार है ।

वधार्थ रावणस्येह प्रविष्टो मानुषी तनुम् ।

रावण का वध करने के लिये आप मनुष्य की देह धारण कर रहे है ।

तार्किक विश्लेषण और श्रमण सस्कृति की वैज्ञानिक मान्यता

उपर्युक्त उद्धरणो का यदि तार्किक विश्लेषण किया जाये तो श्रमण-सस्कृति की सृष्टि-सर्जन की वैज्ञानिक मान्यता के आगे वे शिथिल पड जाते है । जैन दर्शन सृष्टि को अनादि और अनन्त मानता है । उसका विश्वास है कि यह सृष्टि न तो किसी समय-विशेष मे बन कर तैयार हुई थी और न ही किसी विशेष समय मे इसका पूर्ण सहार ही होगा । पदार्थों के रूपो मे परिवर्तन होता रहता है, किन्तु मूल रूप मे पदार्थ नष्ट नही होते । पदार्थो की परिवर्तनशीलता के कारण सृष्टि के रूप मे परिवर्तन होता रहता है । समुद्र के स्थान पर मरुस्थल और मरुस्थल के स्थान पर समुद्र बनते रहते है । उजडे हुए स्थानो पर नगर बसते रहते है, और बसे हुए नगर उजडते रहते है । इस प्रकार की एकदेशीय प्रलय, समय-समय पर होती रहती है किन्तु सर्वथा बीज-नाश वाली महाप्रलय कभी नही होती, जिसके पश्चात् पूर्णरूप से

ही नये सिरे से सृष्टि के निर्माण की कल्पना करनी पडे। सृष्टि का पूर्ण रूपेण बीज नाश हो जाता है और फिर नये सिरे से, ईश्वर इसकी रचना करता है, यह बात मस्तिष्क मे बैठती नही। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर —

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष ईश्वर।"

—योग०, १, २४

अर्थात्—कलेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप और अभिनिवेश, कर्म, पाप-पुण्य, कर्मफल, जाति, आयु, भोग तथा वासनाओ से रहित होता है ईश्वर। इसके अतिरिक्त।

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।"

—वही, १, २५

अर्थात्—ईश्वर सर्वज्ञ है।

जिस ईश्वर मे राग और कर्म का अभाव है, वह अपनी माया द्वारा ससार के जीवो को यन्त्र के समान ससार मे क्यो घुमा रहा है, यह बात बुद्धि की कसौटी पर खरी नही उतरती। फिर वह तो सर्वज्ञ भी है, जो सर्वज्ञ होता है, वह पूर्ण होता है, पूर्ण वही होता है, जिसमे किसी भी प्रकार की इच्छा की सत्ता नही होती, इच्छा के बिना ईश्वर नाम की शक्ति ने सृष्टि को कैसे उत्पन्न किया, यह बात भी ठीक नही जचती। दुष्टो के सहार के लिये और सज्जनात्माओ के कल्याण के लिये भगवान् को सृष्टि मे अवतार के रूप मे आना पडता है, यह कल्पना भी कल्पना ही प्रतीत होती है। विष्णु पुराण मे ईश्वर को

सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च,
समस्तशक्ति परमेश्वराख्यः।

—विष्णु पुराण, ६, ५, ८६

अर्थात्—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सब कुछ जानने वाला, सब प्रकार की महान् शक्ति से सम्पन्न बताया गया है।

जो ईश्वर सर्वज्ञ—या सब कुछ जानने वाला है, उसको निमन्त्रण देने के लिये ऋषियो और देवताओ को ब्रह्मा के पास जाने की क्या आवश्यकता थी? उसको तो स्वय ज्ञान होना चाहिये कि मृत्युलोक

मे रावण अत्याचार कर रहा है। रावण वध द्वारा भूमिगत प्राणियो पर होने वाले अत्याचारो के निवारण के लिये भी भगवान् को मृत्यु-लोक मे जन्म लेने के कष्ट को भोगने की भी आवश्यकता नही थी क्योकि सर्व शक्ति सम्पन्न होता हुआ वह अपने ही लोक मे बैठा हुआ रावण का नाश कर सकता था। मकडी जो अपने पेट मे से मुख द्वारा तन्तुओ को निकाल कर जाल बनाती है, वह तो मक्खी, मच्छर आदि जीवो को फँसा कर उनका आहार करने के लिये होता है। मकडी का जाल निर्माण सप्रयोजन है। ईश्वर नाम की शक्ति जो सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, रागद्वेषादि से रहित और पूर्ण है, उसका सप्रयोजन होना कैसे सम्भव हो सकता है ? उसे क्या आवश्यकता है, ससार का जाल रचकर उसमे विहार करने की और ससार के जीव-जन्तुओ को यन्त्र के समान भ्रमित करने की ?

इसके अतिरिक्त, यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि जिस प्रकार मकडी जाल को अपने मे से ही उत्पन्न करके अपने मे ही लीन कर लेती है, ठीक इसी प्रकार सृष्टि ईश्वर मे से उत्पन्न होकर ईश्वर मे ही लीन हो जाती है, तो इस पर जैन दर्शन का कथन है कि कारण के गुण कार्य मे अवश्य आते है। सोने का आभूषण तो सोना ही होगा, सुन्दर होगा, मूल्यवान होगा। ईश्वर नाम की महान् शक्ति से उत्पन्न यह सारी सृष्टि भी ईश्वरीय गुणो से युक्त होनी चाहिये, किन्तु इसके विपरीत यह जगत राग, द्वेष रोग, शोक, द्रोह, दुर्व्यसन, चोरी, हत्या और अनेक प्रकार के महापराध करने वाले जीवो से भरा हुआ है। सहस्रो प्राणी भूख से व्याकुल होकर काल का ग्रास बन जाते है, कितने ही असाध्य बीमा-रियो के शिकार होकर दम तोड देते है। कितने ही पूजीपतियो के शोषण की बलि हो जाते है, कितने ही अन्यायी और अत्याचारी तत्व निरपराध प्राणियो की हत्या कर डालते है—ऐसा हम प्रतिदिन दृश्यमान जगत मे देखते हैं। ईश्वर नाम की पावन शक्ति से उक्त प्रकार की अपावन, विषम और विकृत सृष्टि की उत्पत्ति कारण—कार्य के सिद्धान्त को दूषित करती है। यदि ऐसा कहा जाये कि सृष्टि तो प्रभु ने अपनी लीला के लिये बनाई है, तो यह युक्ति भी गले मे नही उतरती क्योकि शुद्ध, बुद्ध, निरजन और जिसे "ससार

माया परिवर्जितोऽसि" ससार की माया से सर्वथा दूर माना गया है, ऐसा प्रभु ऐसी लीला करे जिसमे प्राणी दुष्काल, महामारी, अतिवृष्टि, महायुद्ध आदि मे अनन्त जीव हाहाकार करके मर रहे हो और ईश्वर के लिये वह एक सामान्य लीला मात्र हो। जिस प्रभु को कृपालु और करुणानिधि कहा जाता है, वह कभी भी ऐसा नही कर सकता जिस ईश्वर को इच्छा मात्र से सृष्टि का निर्माण करने वाला बताया गया है, वह इच्छामात्र से दुराचारी को सदाचारी, पापी को पुण्यवान्, निर्दयी को सहृदय और अन्यायी को न्यायवान् भी बना सकता है। वह इच्छामात्र से ऐसी सृष्टि भी बना सकता है जिसमे रोग, शोक, भय, पीडा, शोषण आदि अभिशाप विद्यमान न हो।

जैन सिद्धान्त के अनुसार, राग, द्वेष से सर्वथा विमुक्त, चेतन शक्ति सृष्टि-निर्माण के झझट मे कभी नही फँस सकती। इसके अतिरिक्त ईश्वर को तो "कृतकृत्य" कहा गया है। कृतकृत्य वह होता है जिसे कुछ करना अवशिष्ट न रह गया हो। ईश्वर यदि सृष्टि की रचना करके लीला रचायेगा तो वह कृतकृत्य कैसे कहलायेगा? जैन दर्शन अवतारवाद मे विश्वास नही करता। इसका कारण है कि अवतारवाद के मूल मे एक प्रकार की मानवहीनता की भावना अन्तर्निहित है। इस हीनता की भावना वाले मानव सोचते है कि मानव आखिर मानव ही है, वह महान् कार्य नही कर सकता। जो भी कोई ससार मे असाधारण कार्य करता है, उसमे अवतार होने की भावना का आरोप कर लिया जाता है और उसे ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है। अवतरण का अर्थ है नीचे उतरना। जो अवतार होता है वह ईश्वर के उच्च पद से नीचे उतर कर मानव की देह मे आता है। वह इस लिये आता है कि मानव तो एक हीन प्राणी है, वह महान् कार्यो के करने मे असमर्थ है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अवतारवाद मे आस्था रखने वाली सस्कृति, मानव की महानता, पावनता और श्रेष्ठता मे विश्वास नही करती। वह मानव के भविष्य का उत्तरदायित्व मानव के हाथ मे नही देती किन्तु ईश्वर के हाथ मे सौप देती है। वह "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" ईश्वर को ही मानती है। इसके विपरीत श्रमण सस्कृति मान-वात्मा कोही "अप्पा कत्ता विकता च" मानती है। श्रमण सस्कृति मे

ईश्वर मानव के रूप मे अवतरण नही करता किन्तु मानवात्मा ईश्वर के रूप मे उत्तरण करता है। "उत्तरण, का अर्थ है ऊर्ध्वगति होना ऊपर की ओर जाना। श्रमण सस्कृति मे मानव से बढकर कोई दूसरा श्रेष्ठतम प्राणी नही है। मानव केवल अस्थि-मास का चलता फिरता पुतला नही है किन्तु यह अनन्त शक्तियो का भण्डार है। अन्धकार से घिरे सूर्य के समान जब तक मानव कर्ममल से आच्छादित है, तब तक वह सासारिक मोह माया मे फसा हुआ है। कर्ममल के धुलते ही वह शुद्ध बुद्ध और सर्वज्ञ परमात्मा है। श्रमण सस्कृति मे आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। एक वार उत्तरण को प्राप्त हुई आत्मा अवतरण नही करती। सृष्टि अनादि है, अनन्त है।

साम्ययोग

आत्मा और धर्म की अभिन्नता .

ससार मे अनेक धर्म है। सबकी मान्यताएँ विधि विधान, विशेषताएँ एव सिद्धान्त पृथक्-पृथक् है। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म अपनी ऐसी विलक्षण मान्यता लिये हुए है जिसमे विश्व के सभी धर्मो की मान्यताओ का अन्तर्भाव हो सकता है। यह धर्म चार्वाक धर्म की अस्थायी दैहिक सुखो के निमित्त ऐहिक एपणाओ की पूर्ति के लिये साधना नही है परन्तु यह वह आत्मधर्म है जिसकी आधारशिला आत्मविकास या परमपद की उपलब्धि है। धर्म का और आत्मा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। न तो धर्म ही आत्मा से सर्वथा भिन्न है और न ही आत्मा धर्म से भिन्न है। धर्म का अस्तित्व आत्मा से कही बाहर नही है। आत्मा अनन्तगुणो का भण्डार है और धर्म उन गुणो मे से एक है। दूसरे शब्दो मे आत्मा गुणी है और धर्म गुण है। परन्तु इस बात का यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि इस गुणी और गुण के सम्बन्ध की भी एक सीमा है। धर्म आत्मा का गुण तभी तक है जब तक आत्मा शरीर, वाणी और मन से जुडा हुआ है। शरीरादि तत्वो को जैन दर्शन मे विजातीय तत्व या पुद्गल द्रव्य के नाम से अभिहित किया गया है। जब आत्मा इन विजातीय तत्वो से मुक्ति प्राप्त कर लेती है, तब उसके लिये न कोई धर्म रह जाता है और न ही अधर्म। इस प्रकार विजातीय तत्वो से आवद्ध आत्मदशा मे ही धम या अधर्म की व्यवस्था होती है। जिन-जिन हेतुओ से आत्मा विजातीय तत्वो मे बन्धती है, वे अधर्म कहे जाते है और जिन हेतुओ से विजातीय तत्वो का आकर्पण रुक जाता है वे धर्म के नाम से जाने

जाते हैं। भगवान महावीर ने "समता" को धर्म कहा है और विषमता को अधर्म। राग और द्वेष विषमता के प्रतीक हैं। न राग न द्वेष-- यह समता, तटस्थता या मध्यस्थता के प्रतीक है। महावीर की वाणी मे यही वास्तविक धर्म है। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता, अभय, ऋजुता, नम्रता, पवित्रता, आत्मानुशासन, सयम आदि जो गुण हैं ये सभी उस धर्म के क्रियात्मक रूप हैं। इनको जैन शासन मे व्यावहारिक भाषा मे व्यक्तित्व विकास के साधन और निश्चय की भाषा मे आत्मविकास के साधन माना जाता है।

धर्माचरण क्यो ?

वैदिक सस्कृति मे धर्माचरण—जिसमे यज्ञ, दान, जप-तप, सभी आ जाते हैं, परलोक सुधारने के लिये किया जाता है। "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ का आयोजन करे। इस प्रकार के विधान मे वर्तमान जीवन की उपेक्षा स्पष्ट झलकती है। धर्माचरण करने से परलोक सुधरेगा यह बात तो ठीक है किन्तु उससे वर्तमान जीवन का सुधरना भी उतना ही आवश्यक है जितना परलोक का। वर्तमान जीवन मे भी शान्ति और पवित्रता की आवश्यकता कम महत्व की नही है। अपवित्र आत्मा मे धर्म का निवास कैसे हो सकेगा ? इसलिये धर्माचरण का महत्व जितना परलोक के लिये है, उतना ही इस लोक के लिये भी।

धर्म का लक्ष्य साम्य-भावना

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म का निचोड या सार "सामायिक" शब्द मे निहित है। सामायिक शब्द का अर्थ है "समता की प्राप्ति"। जब साधक के मन मे समता की भावना का उदय हो जाता है, उस समय परत्व और ममत्व दोनो लुप्त हो जाते हैं और समत्व का विकास हो जाता है। परत्व से विद्वेष का पोषण होता है और ममत्व से राग का। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन्ही से विषमता की वृद्धि होती है। परत्व और ममत्व जब दोनो समत्व मे समा जाते है तो आत्मा सम बन जाती है। यही महावीर की वाणी मे धर्म का लक्ष्य है। जो आत्मा ऐसी "सम अवस्था" को पहुँच जाती

है उस पर लाभ और हानि, सुख और दुख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मृत्यु, मान और अपमान का कोई असर नही होता। भगवान् महावीर का उद्देश्य ऐसे ही साम्ययोग का प्रचार करना था जो अनादि-काल से श्रमण परम्परा मे चला आ रहा था।

समता महाव्रतो की जननी

जिस धर्म का आधार "समता" है, उसमे जातिवाद के लिये स्थान कैसे हो सकता है? यज्ञो मे होने वाली हिंसा और दासप्रथा जैसी अमानवीय कुप्रथाओ का स्वत निराकरण हो जाता है। हमारे विचार मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम के पाँच महाव्रतो का जन्म समता की भावना से ही हुआ है। दूसरे शब्दो मे समता पाँच महाव्रतो की जननी है।

अपनी ही आत्मा के समान सबकी आत्मा को समझने वाला व्यक्ति हिंसा भला कैसे करेगा[1]? वह जानता है कि सभी प्राणियो को अपनी-अपनी आयु वैसे ही प्रिय है जैसे उसे अपनी। सब सुख को अपने अनुकूल मानते है और दु ख को प्रतिकूल। मृत्यु किसी को भी अच्छी नही लगती। सबको जीवित रहना प्यारा लगता है। जीवमात्र जीवित रहने की कामना करने वाले है क्योकि सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है[2]। इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए आगम मे लिखा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव रखना ही अहिंसा की परिभाषा है। आजीवन किसी भी प्राणी की मन, वचन, काया से हिंसा न करना एक बडा दुष्कर व्रत है[3]।

इसी प्रकार सत्य की सार्थकता भी समता की भावना पर निर्भर है। प्राणिमात्र के प्रति सम भावना रखने वाला व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये या दूसरे के लिये, क्रोध से वा भय से कभी भी न तो स्वय असत्य वाणी बोलेगा और न ही किसी दूसरे से बुलवाने का प्रयत्न करेगा। ऐसा करने से दूसरे के मन मे दु ख होगा जो हिंसा है[4]। साम्ययोग को मानने वाला मानव, काणे को काणा, नपुसक, को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कभी नही कहेगा क्योकि ऐसा करने से सम्बोधित पुरुष का मन दु ख पायेगा। सत्य भी यदि कटु सत्य है तो वह समता का विरोधी है। कटुवचन की तुलना शास्त्र मे लोहे के

जाते हैं। भगवान महावीर ने "समता" को धर्म कहा है और विपमता को अधर्म। राग और द्वेप विपमता के प्रतीक हैं। न राग न द्वेप--यह रामता, तटस्थता या मध्यस्थता के प्रतीक है। महावीर की वाणी मे यही वास्तविक धर्म है। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता, अभय, ऋजुता, नम्रता, पवित्रता, आत्मानुशान, सयम आदि जो गुण हैं ये सभी उस धर्म के क्रियात्मक रूप हैं। इनको जेन शासन मे व्यावहारिक भापा मे व्यक्तित्व विकास के साधन और निश्चय की भापा मे आत्मविकास के साधन माना जाता है।

धर्माचरण क्यो ?

वैदिक सस्कृति मे धर्माचरण—जिसमे यज्ञ, दान, जप-तप, सभी आ जाते हैं, परलोक सुधारने के लिये किया जाता है। "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वग की कामना करने वाला यज्ञ का आयोजन करे। इस प्रकार के विधान मे वर्तमान जीवन की उपेक्षा स्पष्ट झलकती है। धर्माचरण करने से परलोक सुधरेगा यह बात तो ठीक है किन्तु उससे वर्तमान जीवन का सुधरना भी उतना ही आवश्यक है जितना परलोक का। वर्तमान जीवन मे भी शान्ति और पवित्रता की आवश्यकता कम महत्व की नही है। अपवित्र आत्मा मे धर्म का निवास कैसे हो सकेगा ? इसलिये धर्माचरण का महत्व जितना परलोक के लिये है, उतना ही इस लोक के लिये भी।

धर्म का लक्ष्य साम्य-भावना

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म का निचोड या सार "सामायिक" शब्द मे निहित है। सामायिक शब्द का अर्थ है "समता की प्राप्ति"। जब साधक के मन मे समता की भावना का उदय हो जाता है, उस समय परत्व और ममत्व दोनो लुप्त हो जाते है और समत्व का विकास हो जाता है। परत्व से विद्वेष का पोपण होता है और ममत्व से राग का। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन्ही से विपमता की वृद्धि होती है। परत्व और ममत्व जब दोनो समत्व मे समा जाते है तो आत्मा सम बन जाती है। यही महावीर की वाणी मे धम का लक्ष्य है। जो आत्मा ऐसी "सम अवस्था" को पहुँच जाती

है उस पर लाभ और हानि, सुख और दुख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मृत्यु, मान और अपमान का कोई असर नही होता। भगवान् महावीर का उद्देश्य ऐसे ही साम्ययोग का प्रसार करना था जो अनादि-काल से श्रमण परम्परा मे चला आ रहा था।

समता महाव्रतो की जननी

जिस धर्म का आधार "समता" है, उसमे जातिवाद के लिये स्थान कैसे हो सकता है? यज्ञो मे होने वाली हिंसा और दासप्रथा जैसी अमानवीय कुप्रथाओ का स्वत निराकरण हो जाता है। हमारे विचार मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम के पांच महाव्रतो का जन्म समता की भावना से ही हुआ है। दूसरे शब्दो मे समता पाँच महाव्रतो की जननी है।

अपनी ही आत्मा के समान सबकी आत्मा को समझने वाला व्यक्ति हिंसा भला कैसे करेगा[1]? वह जानता है कि सभी प्राणियो को अपनी-अपनी आयु वैसे ही प्रिय है जैसे उसे अपनी। सब सुख को अपने अनुकूल मानते है और दु ख को प्रतिकूल। मृत्यु किसी को भी अच्छी नही लगती। सबको जीवित रहना प्यारा लगता है। जीवमात्र जीवित रहने की कामना करने वाले है क्योकि सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है[2]। इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए आगम मे लिखा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव रखना ही अहिंसा की परिभाषा है। आजीवन किसी भी प्राणी की मन, वचन, काया से हिंसा न करना एक बडा दुष्कर व्रत है[3]।

काटे मे की गई है। यदि लोहे का काटा चुभ जाये तो घडी दो घडी उसकी पीडा व्याकुल करती है और उसको सरलता से निकाला भी जा सकता है किन्तु कटुवाणी का काटा एक बार चुभ जाने पर सरलता से निकाला नही जा सकता। वह चिरकाल के लिये शत्रुता और भय दोनो को उत्पन्न कर देता है[5]।

अस्तेय नाम के तीसरे महाव्रत का पालन भी साम्ययोग के बिना सभव नही है। जो वस्तु अपनी नही है उसको अपनी बनाने के लिये ग्रहण करना स्तेय है या अदत्तादान है। इस अदत्तादान की निवृत्ति के लिये ही अदत्तादान विरमण व्रत का विधान है। अदत्तादान से अनेक प्रकार के पतन की ओर ले जाने वाले विकारो की ओर प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान से दूसरो के हृदय को कष्ट पहुँचता है। यह भय, पाप, कष्ट तथा परद्रव्य की लिप्सा का कारण है और लोभ का मूल है। यह अपयश कारक है। अनार्य कर्म है, साधुजनो द्वारा निन्दित है, प्रियजनो और मित्रजनो मे भेद उत्पन्न करने वाला है और अनेक प्रकार के राग द्वेष को जन्म देता है[6]। साम्ययोग मे दीक्षित मानव ही उपर्युक्त दोषो या विकारो से मुक्त रहता हुआ अस्तेय व्रत का पालन कर सकता है।

चौथे महाव्रत का सम्बन्ध सीधे साम्योग से न होकर ब्रह्मचर्य से उत्पन्न होने वाली दैहिक, मानसिक एव आत्मिक शान्ति से है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति निर्विकार एव स्थिरमति होता है जो साधक के लिये अत्यावश्यक गुण है। जो व्यक्ति सदाचारहीन है, इन्द्रियलोलुप है, व्यभिचारी है, स्त्रैण है वह आत्म साधना के पथ पर अग्रसर नही हो सकता क्योकि वह राग द्वेष का आगार है। ब्रह्मचर्य के पालन से देह, मन और आत्मा विकारहीन रहते है। विकार हीनता सत्कर्मों की जननी है। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य को लोक मे सबसे उत्तम माना गया है[7]। ब्रह्मचर्य को तप की उच्चकोटि मे रखा गया है और इसे नियम, ज्ञान, दर्शन चारित्र, सयम और विनय का मूल माना गया है। कहा गया है कि जिसने एकमात्र ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतो का पालन कर लिया है ऐसा समझना चाहिये।[8]

पाँचवे महाव्रत अपरिग्रह का साम्ययोग के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। समभावना परिग्रह की विरोधनी है। परिग्रह का अर्थ है वस्तुओ

का सग्रह और उनके प्रति ममत्व। सामान्य जीवन निर्वाह के लिये कतिपय आवश्यक उपकरणो को पास रखना परिग्रह नही है[10]। किन्तु आवश्यकता से अधिक भोग विलास के निमित्त सामग्री एकत्रित करना परिग्रह है। परिग्रह पाप है। परिग्रह मे कार्मण-वर्गणा का आकर्षण निहित है अत वह आस्रव है। अपने लिये अधिकाधिक वस्तुओ के सग्रह का अर्थ है दूसरो को उनके उपयोग से वचित करना। इस रूप मे परिग्रह चौर्य मे भी परिवर्तित हो जाता है। पूजीवाद का जन्म परिग्रह की भावना से ही होता है। दूसरे शब्दो मे पूजीवाद की आधारशिला ही परिग्रह है। परिग्रह मे शोषण का होना स्वाभाविक है। जिस समाज मे शोषण होगा, वहाँ अशान्ति होगी, विपमता का विप फैलेगा, उसकी प्रतिक्रिया होगी और विद्रोह होगा। इस शोपण के कारण ही फ्रान्स, रूस और चीन की अत्यन्त रोम हर्षक क्रान्तियाँ हुई जिनमे असख्य प्राणी अकालमृत्यु के ग्रास बने। मानव ने मानव पर ऐसे बर्बरतापूर्ण अत्याचार किये जिनके सामने दानव की दानवता भी लज्जित हो जाये। सम्भवत शोषण के विरुद्ध होने वाली इसी प्रतिक्रिया को ध्यान मे रखकर भगवान् महावीर ने कहा था कि परिग्रह से विद्वेप की वृद्धि होती है[11]। और यह भी कहा था कि परिग्रह से महान् भय की उत्पत्ति होती है[12]।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने साम्ययोग को धर्म का सार बताया है और कहा है कि यही एक मात्र परमपद प्राप्ति का सोपान है।

अनेकान्त दर्शन में साम्ययोग

महावीर द्वारा समर्थित एव प्रसारित अनेकान्त दर्शन मे भी साम्ययोग की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। जो व्यक्ति इस सत्य को भलीभान्ति जानता है कि पदार्थ नित्य भी है वह जीवन और मृत्यु मे सम रहता है। जो यह भी जानता है कि पदार्थ अनित्य भी है, वह सयोग वियोग मे सम रहता है। जो यह जानता है कि पदार्थ सदृश भी है वह किसी के प्रति घृणा नही कर सकता। जो यह जानता है कि पदार्थ विसदृश भी है उसके मन मे किसी के प्रति आसक्ति नही हो सकती। जिसको यह ज्ञान है कि पदार्थ सत् है वह दूसरे की स्वतत्र सत्ता को अस्वीकार कैसे करेगा? जो यह जानता है कि प्रत्येक

पदार्थ असत् भी है वह किसी को भला परतन्त्र करना कैसे स्वीकार करेगा ?

इस प्रकार भगवान् महावीर का कथन है कि सत्य को जब तक साधक अनेको दृष्टिकोणो से नही देखेगा तब तक उसका साम्ययोगी बनना सम्भव नही है ।

उद्धरण

१. सूत्र कृतांग, श्रु० १, अ० ११, गा० ३
आयातुले पयासु ।

२. आचारांग, श्रु० १, अ० २, ३०३
सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पयवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीविय पिय ।

और देखिये दशवैकालिकसूत्रम् अ०, ६, गा, १०
सव्वे जीवावि इच्छति, जीविऊ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोरं, निग्गंथा वज्जयंति ण ॥

३. उत्तराध्ययन, अ०, १६, गा० २५
समया सव्वभूएसु, सत्तु मितेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्कर ॥

४. दशवैकालिकसूत्रम्, अ० ६, गा० ११
अप्पणट्ठा परट्ठावा, कोहावा जइ वा भया ।
हिंसग न मुसं बूया, नो वि अन्न वयावए ॥

५. वही, अ० ६, गा० ७
मुहुत्तदुक्खा उ हवति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥

६ प्रश्न द्वार ३, सूत्र ६

तइयं च अदत्तादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिमऽ-भेज्जलोभमूलं ·· अकित्तिकरणं अणज्जं ········ साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारक रागदोस बहुल।

७. वही, सवरद्वार, ४, सू० १

लोगुत्तमं च वयमिण

८. वही,

बंभचेर उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित-सम्मतविणयमूल।

९. वही,

एकपि बभचेरे जंमिय आराहियं पि, आराहियं वयमिण सव्वं तम्हा निउएण बंभचेर चरियव्वं।

१०. दशवै० अ०, ६ गा० १९

तपि संजमलज्जट्ठा, धारेंति,

११. उत्तरा०, अ०, ४, गा० २

वेराणुबद्धा नरय उवेन्ति।

१२. वही, अ०, १९, गा० ९८

ममत्तबन्धं च महब्भयावहं।

१४

रत्नत्रयी

सम्यग्-दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र

जैन धर्म मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनो को तीन रत्न या "रत्नभयी" के नाम से अभिहित किया जाता है[1]। ज्ञान से ही पदार्थो को जाना जा सकता है और जानने के पश्चात् ही उन पर श्रद्धा की उत्पत्ति सम्भव है। इसी वास्तविकता को ध्यान मे रखकर ज्ञान का स्थान पहले और दर्शन का वाद मे रखा गया है। परन्तु केवल मात्र ज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर परमतत्व या मोक्ष की ओर प्रगति सम्भव नही है। उसके लिये तो जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति करना अत्यावश्यक ह। सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व भी नि सन्देह जीव मे ज्ञान की सत्ता तो रहती है किन्तु उस ज्ञान को यदि हम अज्ञान भी कह दे तो अनुचित न होगा। सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् वह अज्ञानस्वरूप-ज्ञान, सम्यग्ज्ञान का रूप ले लेता है। यही कारण है कि आचार्यो ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनो के पूर्व "सम्यक्" शब्द का प्रयोग किया है[2]। जैसे सूर्य की तपस और सूर्य का प्रकाश एक दूसरे से पृथक् नही किये जा सकते, ठीक इसी प्रकार सम्यक्-दर्शन और सम्यक् ज्ञान भी एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते सम्यक् चारित्र के साथ इन दोनो का साहचर्य अवश्यभावी नही होता क्योकि सम्यक् चारित्र के अभाव मे भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की सत्ता किसी निश्चित अवधि तक बनी रह सकती है। दूसरे शब्दो मे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति तक उसके दोनो साधन बने रहते है।

ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द का प्रयोग करने से सम्यग्ज्ञान का अर्थ होता है "जिसके द्वारा तत्व का बोध हो"। जिसके द्वारा तत्वार्थ पर दृढ विश्वास उत्पन्न हो जाये, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है। जिस जैनागम प्रतिपादित-आचार पद्धति द्वारा अन्त करण की वृत्तियो पर नियत्रण रखा जाता है और नियत्रण के परिणाम स्वरूप अन्त करण की आन्तरिक एव वाह्य प्रवृत्तियाँ निर्मल हो जाती है, वह आचार पद्धति सम्यक्, चारित्र को जन्म देती है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ये तीन जैन दर्शन के 'तीन रत्न' कहे जाते है जिनके उज्ज्वल प्रकाश मे जीव मिथ्याज्ञान से मुक्ति पाकर परमपद को प्राप्त होता है। या यो भी कह सकते है कि ये तीनो एक परमपावन त्रिवेणी के समान है जिसमे स्नान करके जीव निर्विकार एव निष्कलुष बन जाता है। प्राय सभी आस्तिक धर्मो ने निर्वाण की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है[3] और उसे जीवन का चरम लक्ष्य माना है। ज्ञान के आलोक के बिना, दर्शन की निर्दोषता के बिना और चरित्र की पावनता के बिना केवली की स्थिति तक पहुँचना कदापि सभव नही है। इसी सत्य को अभिव्यक्ति देते हुए और सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वय करते हुए शास्त्र मे लिखा है कि सम्यग्-दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान का होना कदापि सभव नही, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नही हो सकती। जब तक सम्यक् चारित्र के गुण जीव मे न आ जाये तब तक उसका कर्मो से छुटकारा नही हो सकता और कर्मो के छुटकारे के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती[4]।

ज्ञान-स्वरूप :

प्रमाण के द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है। ज्ञान से वढकर कोई दृढ और पुष्ट प्रमाण नही होता[5]। इसके अतिरिक्त ज्ञान द्वारा ही वस्तु-तत्व का निर्णय होता है, अतएव जीव का परमोप-कारी ज्ञान ही कहलाता है[6]। जिसमे तीन काल के गोचर, अनन्तगुण पर्याय मे सयुक्त पदार्थ अतिशय के साथ प्रतिभासित होते है, उसी को ज्ञानीजनो ने ज्ञान कहा है। पूर्णज्ञान का स्वरूप सामान्य रूप से यही है। आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है, उसके मध्य मे असख्यात-प्रदेशी लोकाकाश है। उसमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्त

द्रव्य है, उनके तीनो कालो से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न अनन्त पर्याय है। उन सब को एक समय मे जानने वाला "पूर्णज्ञान" आत्मा का निश्चय-स्वभाव है[7]।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाव वाले पदार्थो से यह सारा ससार बडी सख्या से परिपूर्ण है। जिसके ज्ञान से यह सब युगपत् प्रतिबिम्बित हो जाये, उस ज्ञान को परमयोगीश्वरो का नेत्र समझना चाहिये[7]।

इसके अतिरिक्त ज्ञान के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह भी लिखा है कि जिसके द्वारा समस्त तत्वो को विचार सरणी से आत्मा स्फुट रूप मे देखता है, जिस तत्व मे अनन्त गुणपर्याय की सत्ता है, उसको सम्यक्त्व रूप से जानने के लिये ज्ञान ही हितकर भी है और सर्व प्रथम साधन भी। आत्मा मे यह ज्ञान की ही तो सत्ता है जो उसे जड ससार से पृथक् करती है[9]। ज्ञान के स्वरूप के साथ-साथ, ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आत्म कल्याण के इच्छुक साधको के लिये ज्ञान का सर्वप्रथम आराधन इसलिये अत्यावश्यक है क्योंकि इसके द्वारा ही जीव पौद्गलिक तथा शारीरिक सुख से विरक्ति को प्राप्त होता है। अपने आत्मीय गुणरत्न की रक्षा भी ज्ञान के द्वारा ही होती है। पाप की प्रवृत्ति की रुकावट और आत्म शोधन ज्ञान के द्वारा ही सभव होते है[10]। इसके अतिरिक्त ज्ञान की कृपा से क्रोध शान्त हो जाता है, आत्मा मे अपूर्व समता की भावना की उत्पत्ति होती है। समता के कारण सब प्राणियो मे अभेदभाव पैदा होने से मैत्रीभाव पैदा होता है। मोह का ज्ञान द्वारा नाश हो जाता है, अन्त करण पुनीत बन जाता है और काम विकार समाप्त हो जाता है। आत्मा मे ज्ञान का उदय होने से साधक अटल सुख के पद को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी बन जाता है[11]। कुछ विद्वानो के अनुसार जिसके द्वारा आत्मा से रागद्वेष निकल जाये या जो उनके निकालने का निश्चित हेतु हो वही ज्ञान है, ऐसा कहा है[12] जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो, ससार का स्वरूप हस्तामलकवत स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे, वह सम्पूर्णज्ञान, केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान कहलाता है। इससे बढकर ज्ञान की कोई दूसरी भूमिका नही है। केवल का अर्थ ही पूर्णता है। यह केवल ज्ञान असाधारण है, निरपेक्ष है, परम-शुद्ध है और सब पर्यायो और भावो का बोधक है। लोक और परलोक इसी के द्वारा

अवगम्य है। इसी ज्ञान के द्वारा प्राणियो के कर्मबन्ध का समय तथा उनके शुभाशुभ फल का पता चलता है।

ज्ञान प्रकार

ज्ञान पॉच प्रकार का माना है। (१) आभिनिबोधक, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्यंव और (५) केवल[13] पॉच इन्द्रियाँ और छठा मन, इनके द्वारा जो अर्थाभिमुख निश्चयात्मक बोध होता है, उसे आभिनिबोधक ज्ञान कहा जाता है। मतिज्ञान इसी का दूसरा नाम है। स्पर्श करने, चखने, सूघने, देखने और सुनने के द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते है, वह मतिज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति चार भूमिकाओ द्वारा होती है जिनमे से प्रथम का नाम "अवग्रह", दूसरी का "ईहा", तीसरी का "अपाय" और चौथी का "धारणा" है। स्पर्श के द्वारा "कुछ है" ऐसा अव्यक्त रूपज्ञान "अवग्रह" कहा जाता है। यह क्या होगा इस ज्ञान का नाम "ईहा" है। "यह वस्तु वही है"। ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान "अपाय" कहलाता है। "मुझे इस वस्तु का स्पर्श हुआ" इसकी स्मृति को धारणा कहा गया है।

श्रुतज्ञान का सामान्य अर्थ है, सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान, हम ग्रन्थो को पढकर और भाषणो को सुनकर जो ज्ञान प्राप्त करते है, वह श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। ससार के प्रत्येक प्राणी मे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान व्यक्त या अव्यक्त रूप मे अवश्य रहते है।

"रूपी द्रव्य अमुक काल तक और अमुक क्षेत्र तक मर्यादित रहेगे, इस प्रकार का ज्ञान "अवधिज्ञान" है। दूसरे प्राणियो के मन के भावो को जान लेना "मन पर्यंव" ज्ञान कहलाता है। प्रत्येक वस्तु के सभी पर्यायो का सर्वकालीन जो ज्ञान होता है उसको "केवल ज्ञान" कहते है।

अवधिज्ञान नारकीय और देव के जीवो को जन्म से ही होता है, जबकि तिर्यंच और मनुष्य-योनि के जीवो को यह ज्ञान विशिष्टलब्धि से ही सभव होता है। मन पर्यंव और केवल ज्ञान केवल मनुष्य जाति को ही होता है किन्तु उसके लिये भी विशिष्टावस्था की अपेक्षा रहती है।

इस प्रकार सर्व द्रव्य, सर्वगुण और सर्व पर्यायो का स्वरूप जानने के लिये ज्ञानियो ने उक्त पाँच प्रकार के ज्ञान कथन किये है[14]। ससार का कोई भी पदार्थ ज्ञान की इन पाच प्रकार की मर्यादाओ से वाहर नही है।

सम्यग्दर्शन

जैनागमो के अनुसार ज्ञान का उपयोग श्रद्धा की स्वच्छता के लिये किया जाता है और श्रद्धा की आवश्यकता जीवन शोधन के लिये है। यही कारण है कि जैन धर्म मे जितना वल ज्ञान की यथार्थता पर दिया गया है उतना ही उसकी सच्ची श्रद्धा पर। जीव अजीव आदि तत्वो पर, स्वभाववश अथवा उपदेश के द्वारा उनके यथार्थ स्वरूप मे भावपूर्वक श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है[15]। तत्वो मे स्वय पूर्ण श्रद्धा रखना भी सम्यग्दर्शन है[16]। सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली इस श्रद्धा के भी चार अग माने गये है। (१) परमार्थ सस्तव, (२) परमार्थ ज्ञातृसेवन, (३) व्यापन्न दर्शनी का त्याग, (४) कुदर्शनी का त्याग। तत्व का परिशीलन करना परमार्थ सस्तव है, तत्व के ज्ञाता गुरुजनो की सेवा, परमार्थ ज्ञातृ सेवन है। "व्यापन्नदर्शनी" का अर्थ है कि किसी व्यक्ति का एक वार सम्यक्त्व को प्राप्त होकर उससे भ्रष्ट हो जाना, और कुदर्शनी का अर्थ है मिथ्यादर्शन मे मान्यता रखने वाला[17] इन चारो मे से पूर्व के दो अग श्रद्धा को पुष्ट करते है और अन्त के दो श्रद्धा का सरक्षण करने वाले है।

सम्यग्दर्शन का विरोधी गुण मिथ्यात्व है। जो श्रद्धा के विपरीत है, सत्य के विरुद्ध है वह मिथ्यादर्शन है। देव गुरू, और धर्म के विषय मे विपरीत या भ्रान्तिपूर्ण धारणा रखने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है साधक को चाहिये कि वह कभी इस तथ्य की उपेक्षा न करे। इसी कारण साधक को सचेत करते हुए शास्त्र मे लिखा है कि सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने के लिये पाच दोषो से बचे रहना अत्यावश्यक है। वे पाच दोष है —

१ शका—वीतराग के वचन पर अविश्वास।
२ काँक्षा—परधर्म को अगीकार करने की इच्छा।
३ सन्तो के प्रति ग्लानिभाव रखना। करणी के फल के लिये सन्देह करना भी।

४ मिथ्या दृष्टियो की प्रशसा करना ।

५ मिथ्या दृष्टियो से घनिष्टता रखना ।

जीव के आध्यात्मिक विकास का आरभ सम्यग् दर्शन से ही होता है। जब तक जीव की दृष्टि निर्विकार एवं निर्दोष नही बन जायेगी, तब तक उसका कोई भी प्रयत्न किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो सम्यग्दर्शन को मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है। सम्यग्दर्शन के आठ अग माने गये है जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप समझ मे आता है। वे अग है नि शकित, नि काक्षित निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टित्व, उपब हण, वात्सल्य और प्रभावना[18] । लेख विस्तारमय से यहाँ सबका विवेचन देना सभव नही। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से सम्यक्त्व के इन आठ अगो का पालन करता है, वही सम्यग्दृष्टि पुरुष माना जाता है।

सम्यक् चारित्र

उत्तराध्ययन सूत्र के[28] वे अध्याय मे भगवान् महावीर ने चरित्र प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व, अव्रत कषाय, प्रमाद और मन, वचन, काया के अपवित्र विचारो से जिन पाप कर्मो का बन्धन हो गया है और जिनके शुभाशुभ फल को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन हैं, उन कर्मो का जिस पुरुषार्थ बल से नाश करके आत्मा को कषायादि से रिक्त कर दिया जाता है वही चरित्र कहलाता है। चरित्र के भी पाँच भेद किये है जो इस प्रकार है

१ सामायिक ।
२. छेदोपस्थापनीय ।
३ परिहार विशुद्धि ।
४. सूक्ष्मसपराय और
५ यथाख्यात ।

मन, वचन, काया से न तो स्वय पाप करना, न दूसरे से करवाना और न ही किसी करते हुए का अनुमोदन करना, सामायिक चारित्र कहलाना है। इस प्रकार का चारित्र, साधुओ मे मिलता है। नवागत-शिष्य को "दशवैकालिकसूत्र" का "षड्जीवनिका" नामक चौथा अध्याग पढाने के पश्चात् जो बडी दीक्षा दी जाती है, उसे "छेदो-

इस प्रकार सर्व द्रव्य, सर्वगुण और सर्व पर्यायो का स्वरूप जानने के लिये ज्ञानियो ने उक्त पाँच प्रकार के ज्ञान कथन किये है[14]। ससार का कोई भी पदार्थ ज्ञान की इन पाच प्रकार की मर्यादाओ से बाहर नही है।

सम्यग्दर्शन

जैनागमो के अनुसार ज्ञान का उपयोग श्रद्धा की स्वच्छता के लिये किया जाता है और श्रद्धा की आवश्यकता जीवन शोधन के लिये है। यही कारण है कि जैन धर्म मे जितना बल ज्ञान की यथार्थता पर दिया गया है उतना ही उसकी सच्ची श्रद्धा पर। जीव अजीव आदि तत्वो पर, स्वभाववश अथवा उपदेश के द्वारा उनके यथार्थ स्वरूप मे भावपूर्वक श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है[15]। तत्वो मे स्वय पूर्ण श्रद्धा रखना भी सम्यग्दर्शन है[16]। सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली इस श्रद्धा के भी चार अग माने गये है। (१) परमार्थ सस्तव, (२) परमार्थ ज्ञातृसेवन, (३) व्यापन्न दर्शनी का त्याग, (४) कुदर्शनी का त्याग। तत्व का परिशीलन करना परमार्थ सस्तव है, तत्व के ज्ञाता गुरुजनो की सेवा, परमार्थ ज्ञातृ सेवन है। "व्यापन्नदर्शनी" का अर्थ है कि किसी व्यक्ति का एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त होकर उससे भ्रष्ट हो जाना, और कुदर्शनी का अर्थ है मिथ्यादर्शन मे मान्यता रखने वाला[17] इन चारो मे से पूर्व के दो अग श्रद्धा को पुष्ट करते है और अन्त के दो श्रद्धा का सरक्षण करने वाले है।

सम्यग्दर्शन का विरोधी गुण मिथ्यात्व है। जो श्रद्धा के विपरीत है, सत्य के विरुद्ध है वह मिथ्यादर्शन है। देव गुरू, और धर्म के विषय मे विपरीत या भ्रान्तिपूर्ण धारणा रखने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है साधक को चाहिये कि वह कभी इस तथ्य की उपेक्षा न करे। इसी कारण साधक को सचेत करते हुए शास्त्र मे लिखा है कि सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने के लिये पाच दोषो से बचे रहना अत्यावश्यक है। वे पाच दोष है —

१ शका—वीतराग के वचन पर अविश्वास।

२ काँक्षा—परधर्म को अगीकार करने की इच्छा।

३ सन्तो के प्रति ग्लानिभाव रखना। करणी के फल के लिये सन्देह करना भी।

४ मिथ्या दृष्टियो की प्रशसा करना ।

५ मिथ्या दृष्टियो से घनिष्टता रखना ।

जीव के आध्यात्मिक विकास का आरभ सम्यग् दर्शन से ही होता है। जब तक जीव की दृष्टि निर्विकार एव निर्दोप नही वन जायेगी, तब तक उसका कोई भी प्रयत्न किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो सम्यग्दर्शन को मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है। सम्यग्दर्शन के आठ अग माने गये है जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप समझ मे आता है। वे अग है नि श कित, नि काक्षित निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टित्व, उपव हण, वात्सल्य और प्रभावना[18] । लेख विस्तारमय से यहाँ सवका विवेचन देना सभव नही। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से सम्यक्त्व के इन आठ अगो का पालन करता है, वही सम्यग्दृष्टि पुरुष माना जाता है।

सम्यक् चारित्र

उत्तराध्ययन सूत्र के[28] वे अध्याय मे भगवान् महावीर ने चरित्र प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व, अव्रत कपाय, प्रमाद और मन, वचन, काया के अपवित्र विचारो से जिन पाप कर्मो का बन्धन हो गया है और जिनके शुभाशुभ फल को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन है, उन कर्मो का जिस पुरुषार्थ बल से नाश करके आत्मा को कषायादि से रिक्त कर दिया जाता है वही चरित्र कहलाता है। चरित्र के भी पाँच भेद किये है जो इस प्रकार है

१. सामायिक ।
२ छेदोपस्थापनीय ।
३ परिहार विशुद्धि ।
४. सूक्ष्मसपराय और
५ यथाख्यात ।

मन, वचन, काया से न तो स्वय पाप करना, न दूसरे से करवाना और न ही किसी करते हुए का अनुमोदन करना, सामायिक चारित्र कहलाता है। इस प्रकार का चारित्र, साधुओ मे मिलता है। नवागत-शिष्य को 'दशवैकालिकसूत्र'' का "पड्जीवनिका" नामक चौथा अध्याय पढाने के पश्चात् जो वडी दीक्षा दी जाती है, उसे "छेदो-

स्थापनीय चारित्र कहते हैं। सामायिक चारित्र पर्याय का छेदन करके उपस्थापित करने के कारण इसे छेदोपस्थापनीय कहते हैं। विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या द्वारा आत्मा को शुद्ध करना परिहार-विशुद्धि नाम का तीसरा चारित्र है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का नाम संपराय है। इनके अधिकाधिक अंशो के क्षय होने पर सूक्ष्मसम्पराय की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण कषाय रहित अवस्था की प्राप्ति "यथाख्यात" चारित्र की प्राप्ति मानी जाती है। इसी का दूसरा नाम वीतराग चारित्र भी है। छद्मस्थ आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्ध होती हुई इस अवस्था तक पहुचती है और केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् इसी मे स्थिर हो जाती है। इस भाव को आगम मे निम्नलिखित गाथा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं॥

उत्तराध्ययन, अ०, २८, गा० ३३

उद्धरण

१ उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ३
नाण च दंसणं चेव चरित च।

२ तत्वार्थ सूत्र,

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग।
और देखिये। स्थानांग, स्था० ३, उ० ४, सूत्र १९४
तिविधे सम्मे पण्णत्ते, तं जहा, नाण सम्मे,
दंसण सम्मे, चारित सम्मे।

३. सूत्र कृतांग, अ० ६
निव्वाण सेट्ठा जह सव्व धम्मा।

४. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ३०
ना दसणिस्स नाण, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

५. वीरस्तुति, पृ० ३४

ज्ञानं हिताहित प्राप्तिपरिहार समर्थहि प्रमाण,
ततो ज्ञानमेव तत् ।

६. वही,

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वात् ।

७. वही, पृ० ३४

त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्यायसंयुता ।
यत्र भावा स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञान ज्ञानिना मतम् ॥

८. वही,

ध्रौव्यादि कलितैर्भावैर्निर्भर कलित जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥

९. वही,

अनेकपर्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्त तत्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्न, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥

१०. वही,

रत्नत्रयीं रक्षति यो न जीवो, विरज्यतेऽत्यन्त शरीरसौख्यात् ।
रुणद्धि पाप कुरुते विशुद्धि, ज्ञान तदिष्टं सकलार्थविद्भि ॥

११ वही पृ० ३५

क्रोध धुनीते विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्रीं विहिनस्तिमोहम् ।
पुनाति चित्त, मदन लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्त ॥

१२ वही,

आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।
यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञान निश्चयहेतुजम् ॥

१३ उत्तराध्ययन, अ०, २८, गा० ४

तत्थ पचविह नाण, सुय आभिणिवोहियं ।
ओहि नाणं तु तइय, मण नाणं च केवलम् ॥

१४. वही, गा० ५

एय पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।

पज्जवाणं य सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥

१५ वही, गा० ६

तहियाणं तु भावाण, सब्भावे उवएसण ।

भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं, त वियाहिय ॥

१६. तत्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

१७. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० २८

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा ।

वावन्नकुदसणवज्जणाय, सम्मतसद्दहणा ॥

१८ वही, गा० ३१

निस्संकिय-निक्कखिय-निव्वित्तिगिच्छा-अमूढदिट्ठी य ।

उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥

मोक्षमार्ग

एक मात्र लक्ष्य

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का क्षेत्र जहाँ आकाश-मण्डल की तरह महान् एव व्यापक है वैसे ही सागर तल के समान अत्यन्त गहन एव गम्भीर भी। असख्य प्रतिभाशाली मनीषियो, महर्षियो और महापुरुषो की प्रौढ प्रज्ञाए अनन्त काल से मानव-जीवन के रहस्यात्मक मौलिक तत्वो की गवेषणा मे बौद्धिक ज्ञान के माध्यम से अखिल ब्रह्माण्ड की ऊँचाई से लेकर सागर तल की गहराई तक उडान भरती रही है। सबका एक मात्र लक्ष्य रहा है—दुःख का अत्यन्ताभाव और अनन्त सुख की उपलब्धि। चिन्तनधारा भिन्न-भिन्न प्रकार की थी, अनुभूतियो मे भी समानता नही थी, मार्ग-प्रदर्शन की पद्धति भी भेद-सूचक थी किन्तु निष्कर्ष मिलता-जुलता था और लक्ष्य मे विशेष भिन्नता नही थी। वह था दुःख का अत्यान्ताभाव और अनन्त सुख की उपलब्धि। इसी सत्य को आचार्य पुष्पदत ने निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है

> "रुचीनां वैचित्र्याद्,
> ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
> नृणामेको गम्य-
> स्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥"

अर्थात्—अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ससार के तत्वचिन्तक विद्वानो ने मोक्ष की प्राप्ति के सीधे, टेढे अनेक मार्ग बताये है और उनका अनुसरण किया है किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो जैसे

जल भिन्न-भिन्न नदियो के रूप मे भिन्न-भिन्न मार्गो से बहता हुआ, भूमि को हरी भरी बनाता हुआ और जन-जन को नवजीवन प्रदान करता हुआ अन्त मे समुद्र मे जाकर लीन हो जाता है, ठीक उसी तरह दर्शन नि सन्देह अनेक है, उनके सिद्धान्त भी कुछ भिन्नताएँ लिए हुए है किन्तु सबका एक मात्र लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति रूप सागर तक पहुँचाना है।

हमारा अभिप्राय इस लेख मे किसी दर्शन का खडन या मण्डन नही है। हम तो केवल मात्र पाठको के सामान्य ज्ञान की वृद्धि के लिए तथा आध्यात्मिक ज्ञान से उनका सामान्य परिचय कराने के लिए भारत के आठो दर्शनो मे मोक्ष के स्वरूप पर एक विहगम दृष्टि डाल रहे है। यह भी इस विचार से किया जा रहा है कि आज के भौतिक-वाद के युग मे आगे की जो पीढी हमारे सम्पर्क मे आ रही है वह आत्मज्ञान तथा धर्म ज्ञान के प्रति उदासीन ही नही उपेक्षा भाव भी लिए हुए है। यदि ऐसे सस्कार उस पीढो मे उत्तरोत्तर बढते रहे तो वे घातक सिद्ध होगे। भविष्य का मानव आत्मिक और मानसिक अशान्ति का शिकार बन जायेगा। अशान्ति स्वय तो दु ख रूप है ही किन्तु साथ-साथ अनेक दु खो की जननी भी है। दु ख आत्मा का धर्म नही है। वह आवरण है, पर्दा है, छाया है, माया है, अविद्या है, अज्ञान है। शरीर उसका सहज रूप मे निवास स्थान नही है किन्तु इसमे निवास करने के लिए उसे अज्ञानवश निमन्त्रित किया जाता है। कुछ भी हो मानव केवल मात्र आज से नही अनन्तकाल से दु खो का आगार रहा है, दु खो से त्रसित रहा है, दु खो से पीडित रहा है, दु खों से कुचला जाता रहा है। जब दु ख आत्मा का धर्म नही है तो उसकी ऐसी दशा क्यो हो गई ? वह बौद्धिक प्राणी है। उसने चिन्तन किया, मनन किया, और अनुभव किया, नि सन्देह निजी अनुभूति के साथ-साथ उसने अपने आप्त पुरुषो की अनुभूति का भी सहारा लिया है। वह किसी परिणाम पर पहुँचा। वह परिणाम ही दर्शन के रूप मे हमारे सामने आया। दर्शनो की सक्षिप्त चिन्तनधारा पर विहगम दृष्टि डालने से ही पाठको को यह भली-भाँति ज्ञात हो जायेगा कि सभी मनीषी तत्व-चिन्तको की दृष्टि आत्मकल्याण के लिए दु ख निवृत्ति की ओर रही। निम्नलिखित विश्लेषण से भारत के आठो दर्शनो मे मोक्ष के स्वरूप पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। वे आठ दर्शन है ·

आठ दर्शनो में मोक्ष का स्वरूप, वे आठ दर्शन है

१ न्याय,
२. वैशेषिक,
३ योग,
४. साख्य,
५ मीमासा,
६ वेदान्त,
७ बौद्ध, और
८ जैन

न्याय दर्शन :

प्रधान रूप से यह प्रमाण शास्त्र है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान को कहते है, उसका निर्णय ही इसका प्रधान विषय है। इसके अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन सत्य और सनातन सत्ताएँ है। यह दृश्यमान् जगत् ईश्वर की सृष्टि है। यह वेदान्त के विश्व के समान कोरी माया नही है किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थो के यथार्थ ज्ञान द्वारा नि श्रेयस-मोक्ष का अधिगम होता है जो जीवन का वास्तविक लक्ष्य माना जाता है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति"

अर्थात्—यथार्थ ज्ञान के विना मुक्ति सम्भव नही। यह उनका सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है। यह यथार्थ ज्ञान कैसे हो, इसी की मीमासा न्यायशास्त्र मे की गई है। न्यायदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार इस जगत् के मूल मे परमाणु है, ईश्वर निमित्त कारण है जो अनुमानगम्य है। न्याय सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष मे सुख और दु ख दोनो प्रकार की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। मन साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। दोष, ससार मे प्रवृत्ति, जन्म तथा दु ख की उत्पत्ति मिथ्या ज्ञान के कारण होती है। मिथ्या ज्ञान का नाश तत्वज्ञान से होता है। आत्मा की मिथ्याज्ञान-विहीन अवस्था का नाम ही मोक्ष या नि श्रेयस है।

वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक दर्शनो मे पारस्परिक वडी समानता है।

अन्तर बहुत सामान्य है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमासा करना है जबकि वैशेषिक का लक्ष्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा करना है। इसके अनुसार द्रव्यादि सात पदार्थ है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर करता है। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यो के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान पर ही हो सकती है। इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन ही अत्यावश्यक है क्योकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान करने से तत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, मिथ्याज्ञान के अभाव मे दु खो का अत्यन्ताभाव हो जाता है। आत्मा की इसी स्थिति का नाम मोक्ष है।

योग दर्शन

"योगश्चित्तवृत्तिर्निरोध" पतजल योग दर्शन के इस सूत्र के अनुसार चित्त-वृत्तियो के निरोध का नाम ही योग है। चित्त की प्रकृति चचल मानी है। लौकिक जीवन और अनुभव से यह स्पष्ट है कि चित्त नये-नये पदार्थों के सम्पर्क मे उनका आकार ग्रहण करता रहता है। चित्त के इस पदार्थ रूप ग्रहण को ही वृत्ति कहा गया है। योग दर्शन मे चित्त की पॉच अवस्थाएँ मानी गई है क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। इनमे प्रथम तीन चित्त को चचल, अभिभूत और अशान्त बनाये रखती है। योगाभ्यास चित्त की अन्तिम दो दशाओ मे ही हो सकता है। योग के आठ अग माने गये है जो इस प्रकार है

१. यम
२. नियम
३. आसन
४ प्राणायाम
५ प्रत्याहार
६. धारणा
७ ध्यान तथा
८ समाधि।

यम पॉच प्रकार के माने गये है

१. अहिंसा

२. सत्य
३ अस्तेय
४ ब्रह्मचर्य और
५ अपरिग्रह

सब अगो का विश्लेपण स्थानाभाव के कारण तथा लेख विस्तार के भय से यहाँ सम्भव नही है। इन आठ अगो की प्रक्रिया को विधिवत् पालन करता हुआ आत्मा शनै. शनै विपय वासनाओं से निर्लिप्त होता हुआ रज प्रधान और तम प्रधान वृत्तियो से मुक्त हो जाता है। रज प्रधान और तम प्रधान वृत्तियो के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के क्लेश भोगने पडते है। इन दो प्रकार की वृत्तियो के शान्त होते ही सत्व प्रधान विवेक की उत्पत्ति हो जाती है। इस विवेक की उत्पत्ति से आत्मा समस्त ससर्गों से मुक्त होकर अपने केवल चैतन्य स्वरूप मे स्थित हो जाता है। इसी का नाम योग दर्शन मे मोक्ष है।

सांख्य दर्शन :

इस दर्शन मे "प्रकृति" जिसे "प्रधान" भी कहते है और "पुरुप" जो वास्तव मे "आत्मा" है उन दोनो के सयोग का नाम सृष्टि माना है और वियोग का नाम मुक्ति या मोक्ष है। इस दर्शन के अनुसार सारा ससार दु ख मय है। इस दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति केवल मात्र तत्वज्ञान से ही सम्भव है। यद्यपि पुरुष निरपेक्ष है फिर भी यह अज्ञान के कारण अपने को शरीरादि के बन्धन मे फसाकर अनेक प्रकार के क्लेशो से पीडित होता रहता है। वास्तव मे सुख और दु ख मन और बुद्धि के धर्म है किन्तु अहकार के वशीभूत हुआ पुरुप आत्मा, उनका आरोप अपने ऊपर कर ,लेता है। यही वास्तव मे बन्धन है। विवेक ख्याति होने पर तत्वाभ्यास द्वारा कैवल्य ज्ञान का उदय होता है जिससे दु खादि सब समाप्त हो जाते है। उस स्थिति मे पुरुष को ससार के प्रति कोई अनुराग नही रह जाता। वह तो केवल मात्र ससार-चक्र का साक्षी या द्रष्टा मात्र रह जाता है। आत्मा की यही अवस्था साख्य दर्शन मे मुक्ति या कैवल्य कहलाती है। यह दो प्रकार की मानी गयी है विवेक-ज्ञान के पश्चात् अहकार-शून्य पुरुप जिस मुक्ति का अनुभव करता है वह जीव-मुक्ति है। शरीर त्याग के बाद जो मुक्ति मिलती है वह "विदेह-मुक्ति" कहलाती है।

मीमासा दर्शन

मीमासा दर्शन मे "प्रपचसम्बन्धविलयो मोक्ष" अर्थात्—इस दृश्यमान जगत् के साथ आत्मा का सम्बन्ध न रहना ही मोक्ष है। यह दर्शन वेदपूरक होता हुआ भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता। कर्म-काण्ड की इसमे प्रधानता है। इसके अनुसार वेद-विहित कर्मो के सम्पादन द्वारा ही विशुद्ध सुख की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नही। मीमासको के अनुसार शुभाशुभ कर्मो का फल तो आत्मा को भोगना ही पडता है। आत्मा तीन प्रकार के बन्धनो से ससार मे जकडी रहती है

१ भोगायतन शरीर।

२ भोग साधन इन्द्रिय।

३ भोग विषयक पदार्थ।

यज्ञादि कर्मो के सम्पादन द्वारा इन बन्धनो का क्षरण होता है। इन तीन प्रकार के बन्धनो के आत्यन्तिक विनाश से आत्मा जिस अवस्था मे पहुँचता है वही मोक्ष है।

वेदान्त दर्शन

शकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र चरम सत्य है। जीव और जगत् की सत्ता मिथ्या है। अज्ञान जिसे माया और अविद्या के पारिभाषिक शब्दो से भी अभिहित किया गया है, के कारण जीव और जगत् की सत्ता प्रतीत होती है किन्तु वास्तव मे यह रस्सी मे सर्प की भ्रान्ति के समान असत्य है। जब ज्ञान के द्वारा यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तो ब्रह्म मात्र अवशेष रह जाता है। तब लगने लगता है

"सर्वंखल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन॥"

अर्थात्—सब ब्रह्म ही ब्रह्म है और कुछ भी नही। शकर के अद्वैतवाद के अनुसार यह ब्रह्म निर्गुण और अनन्त है। इसी ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही प्रत्येक जीव के जीवन का लक्ष्य है। इसी एकात्म्य का अनुभव करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव कहलाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम मोक्ष कहलाता है। अविद्या के कारण ही जन्म, जरा और मरण आदि सासारिक क्लेश

उत्पन्न होते है। ज्ञान के द्वारा अविद्या के नष्ट होते ही सब दु खों का अन्त हो जाता हैं।

ब्रह्म नि सन्देह निर्गुण है किन्तु यही निर्गुण ब्रह्म जब माया से उपहित हो जाता है तो सगुण परमेश्वर कहलाता है। यह सगुण ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है। यही इन सारे सासारिक प्रपच का सृजनकर्त्ता, नियन्ता और हन्ता है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा और जगत् अनित्य है। ससार का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील एव नाशवान है। वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से होती है, यदि कारण नष्ट हो जाये तो वस्तु भी नष्ट हो जाती है। जो भी नित्य और स्थायी प्रतीत होता है वह सब नाशवान् है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है। इस प्रकार सारी सृष्टि प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन का ही परिणाम है। अणुओ के द्वयणुकादि सयोग द्वारा यह सृष्टि विकसित होती है और इसका क्रम चलता रहता है। बौद्ध दर्शन मे पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये ही चार भूत माने है, आकाश की गणना भूतो मे नही की। अणुओ के पृथक् होने से सृष्टि का प्रलय हो जाता है।

बुद्ध ने जरा, मरण और रोगादि से छुटकारा प्राप्त करने के लिए तपस्या का आश्रय लिया था। तपस्या द्वारा उन्हे बोधि ज्ञान की प्राप्ति हुई जिसका सार चार आर्य सत्यो मे निहित है। वे चार आर्य सत्य हैं (१)दुख है। (२)दु ख का कारण है। (३)दु ख का निरोध है (४) दु ख-निरोध-गामिनी प्रतिपद अर्थात् साधन है। दु खो से परिपूर्ण इस दृश्यमान जगत् से निर्वाण पाने के लिए बौद्ध दर्शन मे अष्टागी मार्ग का पालन करने का बुद्ध ने उपदेश दिया है। वे आठ मार्ग है सम्यक् दृष्टि, सकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। इन मार्गो का अनुसरण करने से ही मानव मे रहने वाली अविद्या और तृष्णा का नाश होता है, जीव को निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है, उसमे दृढता आती है और उसे शान्ति मिलती है। इन्ही उपायो द्वारा ही जीव के दु खो का नाश होता है, उसे अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान होता है और पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। इन सासारिक दु खो

की निवृत्ति को ही बौद्ध दर्शन मे मोक्ष या निर्वाण कहा गया है।

जैन दर्शन

जैन दर्शन मे नव प्रकार के तत्व माने गये है। जो इस प्रकार है जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन नवो तत्वो मे जीव और अजीव दो द्रव्य है। चेतन द्रव्य को जीव कहा जाता है। चेतनता जीव का स्वाभाविक लक्षण माना गया है। नैसर्गिक रूप मे प्रत्येक जीव अनन्त-ज्ञान दर्शन और अनन्त सामर्थ्य आदि गुणो से युक्त होता है। किन्तु आवरणीय कर्मो के द्वारा उसके स्वाभाविक गुणो का विकास नही हो पाता। जीव यद्यपि अमूर्त है किन्तु दीपक के समान वह अपने अधिष्ठानभूत शरीर को प्रकाशित करता है। अजीव पदार्थ के जो चार भेद है उनमे पुद्गल भी एक भेद है। पुद्गल उन द्रव्यो को कहते है जो प्रचय रूप से शरीर को उत्पन्न करते है जो प्रचय के विनाश से छिन्न-भिन्न हो जाते है। पुद्गल के दो स्वरूप है—अणु, सघात। अणुओ के प्रचय रूप से एकत्रीकरण द्वारा ही शरीर मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। जीव मे, जैसा कि ऊपर कह आये है, अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति है किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप कर्मो के आवरण से छिप जाता है। वह स्वय अपनी कर्मेच्छाओ के द्वारा पुद्गल को आकर्षित करता है और अपने वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर लेता है। इसी का नाम वन्धन है।

कर्मों का निराकरण ही मोक्ष का साधन है। ये साधन तीन प्रकार के है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र। जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष के सिद्धान्तो का सच्चा या भ्रान्तिहीन ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान के नाम से अभिहित होता है। जीवादि पदार्थों के सच्चे ज्ञान के बिना आत्मा के लिए अज्ञान की भ्रान्ति से निकलना और सत्य के प्रकाशमे आ जाना कदापि सम्भव नही है। ज्ञान से जानकारी मिलती है। ज्ञान के बिना हेय और उपादेय का पता नही चल सकता है। ज्ञान के अभाव मे हेय को उपादेय समझ कर ग्रहण किया जा सकता है और उपादेय को हेय समझकर छोड भी दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए भोजन

निमित गेहू बाजार से लाते है। सर्वप्रथम उसका शोधन होता है। उसमे ककर पत्थर जो हेय है उन्हे निकाल कर बाहर फेंक दिया जाता है और जो उपादेय गेहू है उसे सम्भाल कर उपयोग के लिए रख लिया जाता है। सम्यक् ज्ञान की इस शक्ति द्वारा ही धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है।

सच्चा देव अरिहन्त भगवान् है, सच्चा गुरु निर्ग्रन्थ है, सच्चा धर्म प्राणी मात्र पर दया की भावना है—आदि मान्यताओ पर अडिग विश्वास रखना सम्यक् दर्शन है। दृढ विश्वास या दृढ श्रद्धा के अभाव मे किसी भी वस्तु के उपयोग मे प्रवृत्ति नही होती। यही कारण है कि आगमकारो ने दर्शन पर बडा महत्व दिया है। यहाँ तक कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति कदापि मोक्ष का अधिकारी नही बन सकता ·

दंसण भट्टो भट्टो
दसण भट्टस्य नत्थि निव्वाणं :

सम्यक् चारित्र का अर्थ है सत्य आचरण ! अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के नियमो का सच्ची निष्ठा से पालन करना ही असत्य आचरण कहलाता है। जो आत्मा जितनी ही राग-द्वेषादि विकारो से दूर रहेगी वह उतनी कम सासारिक मोह-माया मे प्रवृत्त होगी।

आत्मा मे उत्पन्न होने वाली चचल विकृति राग-द्वेषादि के कारण ही होती है। राग द्वेष की निवृत्ति होते ही वीतराग की दशा प्राप्त हो जाती है तथा फिर आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध निष्कलक और अपने वास्तविक स्वरूप या धर्म मे पहुच जाती है। जैन दर्शन मे आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष है।

"जयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्यो की नामावली"

वंश-परम्परागत सदस्य	निवास	वतन
१. सर्वश्री सुगनचन्द जी प्रेमचन्द जी श्रीमाल	रायपुर (म०प्र०)	सियाट
२ सर्वश्री लालचन्द जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
३ सर्वश्री मागीलाल जी चम्पालाल जी गोटावत	बेंगलोर	सोजत सीटी
४ सर्वश्री जवरचन्द जी रतनचद जी वोहरा	मद्रास	कुचेरा
५ सर्वश्री मिश्रीमल जी लूणकरण जी नाहर	लखनऊ	कुचेरा
६ सर्वश्री जवरीमल जी सज्जनराज जी वोहरा	बेंगलोर	ब्यावर
७ सर्वश्री नेमीचन्द जी प्रेमचन्द जी खीचा	बेंगलोर	ब्यावर
८. सर्वश्री सुगालचन्द जी सिघवी,	मद्रास	सियाट

आजीवन सदस्य		
१ श्रीमान् फूलचन्द जी लूणिया	बेंगलोर	पिपलिया
२ श्रीमान् भवरलाल जी विनायकिया	मद्रास	करमावास (पट्टा)
३ श्रीमान् रणजीतमलजीमरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
४ श्रीमान् पन्नालाल जी सुराणा	मद्रास	कालाउना
५ श्रीमान् लालचन्द जी डागा	मद्रास	रायपुर
६ श्रीमान् भवरलाल जी गोठी	मद्रास	ब्यावर
७ श्रीमान् रिघकरण जी बेताला	मद्रास	कुचेरा
८ श्रीमान् मोहनलाल जी चौरडिया	मद्रास	नागौर
९ श्रीमान् अमोलकचन्दजी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१० श्रीमान् राजमल जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
११. श्रीमान् कपूरचन्द भाई	मद्रास	सौराष्ट्र
१२ श्रीमान् सम्पतराज जी सिघवी	रायपुर	सियाट

१३ श्रीमान् फतेहचन्द जी कटारिया	बंगलोर	देवली कला
१४ श्रीमान् भवरलाल जी डूगरवाला	मद्रास	कम्मावास (मालिया)
१५ श्रीमान् पारसमल जी सारूल	बेंगलोर	साडिया
१६ श्रीमान् मोतीलाल जी मूथा	बेंगलोर	रास
१७ श्रीमान् जुगराज जी वरमेचा	मद्रास	अटवडा
१८ श्रीमान् नथमल जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१९ श्रीमान् केवलचन्द जी वापना	मद्रास	आगेवा
२० श्रीमान् रिखबचन्द जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२१ श्रीमान् मोहनलालजी कोठारी	विरचीपुरम्	विराटिया
२२ श्रीमान् भानीराम जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२३ श्रीमान् चादमल जी कोठारी	बेंगलोर	रायपुर
२४ श्रीमान् धनराज जी बोहरा	बेंगलोर	ब्यावर
२५ श्रीमान् जगलीमल जी भलगट	भडारा	रीया
२६ श्रीमान् झूमरमल जी भलगट	भडारा	रीया
२७ श्रीमान् हस्तीमल जी वणिगगोता	बेंगलोर	दासपा
२८ श्रीमान् रगलाल जी रांका	पट्टाभिराम	कुशालपुरा
२९. श्रीमान् प्राणजीवन भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३० श्रीमान् रसिकलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३१ श्रीमान् शान्तिलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३२ श्रीमान् रजनीकान्त भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३३ श्रीमान् जवाहरलालजी बोहरा	रत्नागिरी	रीया
३४. श्रीमान् हीरालाल जी बोहरा	रॉबर्टसनपेट	ब्यावर
३५ श्रीमान् जैवन्तराज जी लूणिया	मद्रास	चडावल
३६ श्रीमान् जबरचन्दजी बोकडिया	मद्रास	खागटा
३७ श्रीमान् पुखराज जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
३८ श्रीमान् गजराज जी मेहता	मद्रास	सत्यपुर
३९ श्रीमान् मीठालाल जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४०. श्रीमान् भीखमचन्दजी गादिया	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४१ श्रीमान् पारसमल जी बोहरा	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४२ श्रीमान् चगालाल जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४३. श्रीमान् भेरूलाल जी बोहरा	उत्कोटा	सत्यपुर

४४.	श्रीमान् जुगराज जी चोपडा	मद्रास	सत्यपुर
४५	श्रीमान् मोतीलाल जी चोपडा	ऊत्तकोटा	सत्यपुर
४६	श्रीमान् मागीलाल जी वोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४७	श्रीमान् धर्मचन्द जी वोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४८	श्रीमान् माणकचन्द जी मूथा	मद्रास	सत्यपुर
४९	श्रीमान् भीखमचन्द जी वोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५०	श्रीमान् जवरचन्द जी वोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५१.	श्रीमान् जेवतराज जी गादिया	मद्रास	सत्यपुर
५२	श्रीमान् मेममल जी सेठिया	वेंगलोर	कटालिया
५३.	श्रीमान् किसनलालजी मकाणा	दौडवालापुर	हाजीवास
५४.	श्रीमान नूणकरण जी नोनी	भिलाई	
५५	श्रीमान् भवरलाल जी कोठारी	व्यावर	खागटा
५६	श्रीमान् लालचन्द जी श्री श्रीमाल	व्यावर	गिरी
५७.	श्रीमान् मिश्रीमल जी छाजेड	वैंगलोर	वलाडा
५८	श्रीमान् सपतराज जी सिघवी	तिरुवेलोर	सियाट
५९,	श्रीमान् शातिलाल जी साखला	तिरुवेलोर	साडिया
६०	श्रीमान् हस्तीमल जी गादिया	मद्रास	साडिया
६१	श्रीमान् दुलीचद जी चोरडिया	मद्रास	नोखा
६२	श्रीमान् इन्द्रचन्द जी सिघवी	मद्रास	सियाट
६३	श्रीमान् पारसमलजी वागचार	मद्रास	कुचेरा
६४	श्रीमान् जवाहरलालजी चोपडा	अमरावती	पीपाड
६५	श्रीमान् शातिलाल जी गाधी	वम्बई	पीपाड
६६	श्रीमान् देवीचन्द जी सिघवी	मद्रास	सियाट
६७	श्रीमान् रतनलाल जी वोहरा	केलशी	पोपाड
६८	श्रीमान् पारसमलजी वोकडिया	मद्रास	खागटा
६९	श्रीमान् पूसालाल जी कोठारी	खागटा	खागटा
७०	श्रीमान् अमरचन्दजी वोकडिया	मद्रास	खागटा
७१.	श्रीमान् दीपचद जी वोकडिया	मद्रास	खागटा
७२.	श्रीमान् केवलचद जी कोठारी	मद्रास	खागटा
७३	श्रीमान् चैनमल जी सुराणा	मद्रास	कुचेरा
७४	श्रीमान् जुगराज जी कोठारी	मद्रास	खजवाणा

ग्रंथ परिचय

जैन, वैदिक एव बौद्ध-इन तीनो भारतीय धर्मो की सास्कृतिक विचार निर्झरिणिया चिरकाल से साथ-साथ बहती चली आ रही है। भारतीय वाड्मय मे इन तीनो का मौलिक चिन्तन, तात्विक विश्लेषण, सैद्धान्तिक विवेचन और आध्यात्मिक साधना का अपना-अपना पृथक स्थान है। इन तीनो मे तारतम्य की दृष्टि से जैन-सस्कृति की सर्वमान्य, तर्कसगत और विज्ञान की कसोटी पर परीक्षित तात्विक चिन्तनधारा का उत्कृष्टतम स्थान क्यो है—इस प्रश्न का समाधान—इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच महाव्रतो की आध्यात्मिक-जीवन की अन्तिम सोपान पर पहुच के लिए महनीयता, उपादेयता और अधिगमनीयता के चित्रण ने इस ग्रन्थ मे साकारता ग्रहण की है। भगवान् महावीर से लेकर अठारवी शताब्दी तक पू जीवाद जैसी अर्थमूलक शोषण-पद्धति का जन्म नही हुआ था। इसी शोषण-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप मे साम्यवाद और समाजवाद का जन्म हुआ। श्रमण-सस्कृति का अपरिग्रहवाद उक्त दोनो वादो का ही दूसरा नाम है। साम्यमूलक अपरिग्रहवाद का ग्रन्थ मे वैज्ञानिक विश्लेषण मनीषी सन्त लेखक की लेखनी की अनुपम विलक्षणता है। जैनधर्म मे पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रमाणिक एव वास्तविक सिद्धान्त कर्मवाद के आधार पर किया गया है। पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि जीवन की घटनाओ की सगति कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही प्रतिपादित की है। जैनधर्म का कर्मसिद्धान्त आत्मा की स्वतन्त्रता का, सर्वशक्ति सम्पन्नता का, स्व-पुरुषार्थ का और स्व की परिपूर्णता का ही परिचायक नही किन्तु इस रहस्य का भी उद्घाटन करने वाला है कि आत्मा का अन्तिम ध्येय ईश्वरत्व की प्राप्ति है। श्रमण सस्कृति के कर्म सिद्धान्त को ग्रन्थ मे बडी ही सारगर्भित समास शैली मे विश्लेषित किया गया है। जैनेतर शास्त्रो के उद्धरण ग्रन्थ को और भी चार चाद लगाने वाले है। गत तीन हजार वर्षो मे विश्व के साहित्य प्रागण मे आत्म-तत्व, ईश्वरवाद और सृष्टिसर्जन जैसे विषयो को लेकर अनेक तत्वचिन्तक-दार्शनिको ने गम्भीर मनन, चिन्तन और अनुसन्धान किया है। जैन दर्शन ईश्वर को नही किन्तु ईश्वरत्व को उत्कृष्टतम ध्येय मानता है। उसकी मान्यता है कि सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता नियामक और हर्ता कोई ईश्वरीय सत्ता नही किन्तु सृष्टि-प्रक्रिया स्वाभाविक है। सृष्टिसर्जन जैसे जटिल विषय का विवेचन ग्रन्थ मे बडे ही सारगर्भित एव मनन-चिन्तन योग्य शब्दो मे किया है। तत्व के यथार्थ बोध का उत्पादक सम्यग्ज्ञान, तत्वार्थ पर दृढ प्रतीति का जनक सम्यग्दर्शन और अन्त करण की वृत्तियो का नियन्त्रक सम्यक् चरित्र—ये तीनो जैन धर्म मे 'रत्नत्रयी' के नाम से जाने जाते हैं। इनको जीवन मे उतारने से आत्मा किस प्रकार आत्म विकास की चरम सीमा-मोक्ष की सोपान पर आरूढ हो जाता है—इस आध्यात्मिक तत्व का बडा ही सुन्दर विवेचन है। आठ दर्शनो मे मोक्ष के सक्षिप्त स्वरूप के विश्लेषण मे जैनदर्शन के तर्कसगत एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दिग्दर्शन भी ग्रन्थ की गरिमा को बढाने वाला है।

अस्तेय
सत्य
श्री
जी
ॐ अर्हम्
लेश्या
मोक्ष मार्ग